

जिन खोजा तिन पाइयाँ

अध्यात्मरत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
के
कथा साहित्य में समागत सूक्तियों का संकलन

संकलन :

श्रीमती शान्तिदेवी जैन

सम्पादन :

श्री महावीरप्रसाद जैन

सेवा निवृत्त अति. कुलसचिव

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर - ३०२०१५

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

फोन : (०१४१) २७०५५८१, २७०७४५८

प्रथम संस्करण : ३,०००

(२९ अप्रैल, २००६)

वैशाख शुक्ल दोज,

पूज्य गुरुदेव जयंती

जिन खोजा तिन पाइयाँ

आगम-रत्नाकर में प्रतिदिन

जो गोते खूब लगायेगा।

अध्यात्म का अवलम्बन ले

जो गहरे गोते खायेगा॥

यथाशीघ्र तल तक जाकर

वह अनमोल रतन ले आयेगा।

रत्नत्रय की निधियाँ पाकर

वह अनुपम आनंद पायेगा॥

ह ह ह

समकित का अनमोल रतन

उसके अनुभव में आयेगा।

ज्ञान-रतन की ज्योति से

वह अज्ञान अंधेर भगायेगा॥

निज स्वरूप में स्थिर हो

वह भवसागर तर जायेगा।

मोक्षमहल में जाकर के

वह कृत्य-कृत्य हो जायेगा॥

ह ह ह

‘जिन खोजा तिन पाइयाँ’

यह विश्वास हमारा है।

आध्यात्मिक रत्नों को पाने का

ये ही बस एक सहारा है॥

— रतनचन्द भारिल्ल

कीमत : १० रुपये

मुद्रक :

प्रिन्ट ‘ओ’ लैण्ड

बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

‘जिन खोजा तिन पाइयाँ’ अध्यात्मरत्नाकर पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के कथा साहित्य से चुने गए सिद्धान्त वाक्य, सूक्तियों और लोकव्यवहार में आनेवाले नीतिवाक्यों की संकलित कृति है, जिसे श्रीमती शान्तिदेवी जैन ने संकलित कर लिपिबद्ध किया है। पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल सिद्धहस्त लेखक एवं कथाशैली के कुशल चितरे हैं।

आपके द्वारा सरलतम निबन्ध शैली के अतिरिक्त उपन्यास शैली में लिखीं गईं छह कृतियाँ बहुत लोकप्रिय हुई हैं। वे अनेक संस्करणों में प्रकाशित होकर रिकार्ड बिक्री द्वारा जन-जन तक पहुँच चुकीं हैं। पाठकों की माँग पर गुजराती एवं मराठी भाषा में भी इनके अनुवाद हुए हैं।

हमने कुछ समय पूर्ण डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के सत् साहित्य सागर से चयनित सूक्तियों और सिद्धान्त वाक्यों को ‘चिन्तन की गहराइयाँ’ और ‘सूक्तिसुधा’ के रूप में प्रकाशित किया था। तबसे हमारे मन में अनेक बार ऐसा विचार आया कि पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के सत्साहित्य सिंधु से भी सूक्तियों और सिद्धान्तवाक्यों के मणिमुक्ता चुनकर प्रकाशित किए जाय; किन्तु उनकी काललब्धि अब तक नहीं आ पायी।

हमें तब भारी प्रसन्नता हुई, जब हमें यह ज्ञात हुआ कि बिना हमारा संकेत पाये ही श्रीमती शान्तिदेवी ध. प. एम. पी. जैन ने स्वतः स्वान्तःसुखाय अपनी रुचि से पण्डितजी सा. के कथासाहित्य का सूक्ष्मदृष्टि से स्वाध्याय किया और चयनित महत्त्वपूर्ण अंशों का संकलन किया है। उनके इस कार्य में उनके पति श्री एम. पी. जैन, पूर्व अतिरिक्त कुलसचिव - राजस्थान विश्वविद्यालय ने भरपूर सहयोग दिया है और उनका संपादन कर उसे प्रकाशन योग्य बनाया है।

इतना ही नहीं, उन्होंने इस कृति को कम कीमत में जन-जन तक पहुँचाने के लिए स्वयं एवं अपने परिचितों के सहयोग से आर्थिक योगदान भी उपलब्ध कराया है। एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

इसके शुद्ध, स्वच्छ एवं सुन्दर प्रकाशन के लिए श्रीयुत अखिल बंसल धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है पाठकगण अन्य कृतियों की भाँति इससे भी लाभान्वित होंगे।

— ब्र. यशपाल जैन, प्रकाशन मंत्री

हार्दिक उद्गार

यद्यपि पीहर (ग्राम पालम, दिल्ली) में जैन पण्डितों के परिवार में जन्म लिया, परन्तु वहाँ पूजा, पाठ आदि क्रियाकाण्डों के अतिरिक्त कुछ जाना, समझा नहीं। जयपुर में हमारे निवास स्थान (विश्वविद्यालय प्रांगण) के निकट स्थापित श्री टोडरमल स्मारक भवन में आने-जाने से विदित हुआ कि धर्म क्रियाकाण्ड से कुछ अधिक है। गृहस्थी की व्यस्तता के कारण दैनिक प्रवचनों के लाभ से तो वंचित रही, परन्तु स्मारक से प्रकाशित हल्के-फुल्के साहित्य ने आध्यात्मिक रुचि जागृत की। आदरणीय पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित सारे उपन्यासों का रुचिपूर्वक अध्ययन किया और यदा-कदा परिवार में उनके कथा साहित्य में समागत सूक्तियों पर चर्चा-वार्ता भी करती रही; परन्तु उनके संकलन एवं लिपिबद्ध करने का अवसर विगत कुछ वर्षों में ही प्राप्त हुआ।

आदरणीय पण्डितजी की धर्मपत्नी श्रीमती कमला भारिल्ल ने समय-समय पर कुछ लिखने की प्रेरणा दी। परिणाम स्वरूप प्रस्तुत संकलन तैयार हो पाया, जिसकी अनुमोदना स्वयं पण्डितजी ने प्रदान की। एतदर्थ मैं उन दोनों की हृदय से आभारी हूँ।

कलम के धनी श्री पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की सरल सुगम एवं मृदु अभिव्यक्ति का आस्वादन आपके द्वारा अनुवादित प्रवचन रत्नाकर के अनेक भागों का तथा आपके द्वारा लिखीं छोटी-छोटी पुस्तकों के स्वाध्याय से प्राप्त किया और उनमें समागत महत्त्वपूर्ण उद्धरणों का संकलन विगत वर्षों से निरन्तर करती रही हूँ। इससे सर्वाधिक लाभ यह हुआ कि १९९५ में २५ वर्षीय युवा पुत्र संजीव के अचानक देहावसान की मानसिक पीड़ा तथा आर्त्तध्यान से रक्षा हो सकी और अपने उपयोग को आध्यात्मिक वातावरण की ओर आकृष्ट कर पाई हूँ। इसमें परिवारजन का व मेरे पति और परिवार का मुझे पूरा सहयोग मिला। एतदर्थ मैं पण्डितजी एवं अपने पति और परिवार की कृतज्ञ हूँ।

दिनांक : २२ अप्रैल, २००६

- (श्रीमती) शान्तिदेवी जैन, जयपुर

सम्पादकीय

लगभग ग्यारह वर्ष पूर्व हमारे युवा पुत्र संजीव जैन के अचानक देहावसान से शान्तिदेवी को गहरा सदमा लगा, जिसके निवारण के लिए उसमें धर्म की रुचि जाग्रत करने के अतिरिक्त और कोई उपाय दृष्टिगत नहीं हुआ।

स्व. संजीव, दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी था और जैनदर्शन सम्बन्धी शंकाओं के समाधान के लिए पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल से सम्पर्क साधता था। उनके द्वारा प्रदत्त पुस्तकों का भी मनोयोग से अध्ययन करता था और हम दोनों के साथ चर्चा-वार्ता भी करता रहता था।

स्व. संजीव की ऐसी प्रवृत्ति से प्रेरणा पाकर हम दोनों को तभी से प्रवचन रत्नाकर (हिन्दी) के अनेक भागों से एवं आत्मधर्म, वीतराग विज्ञान, आत्मतत्त्व, स्वानुभूतिप्रकाश आदि अनेक जैन पत्र-पत्रिकाओं के महत्त्वपूर्ण उद्धरणों को रेखांकित करने तथा उनको डायरियों में लिखने का व्यसन जैसा हो गया था। परिणाम स्वरूप अबतक लगभग १०० डायरियाँ संकलनों से भर गई हैं, जिनका उपयोग साधर्मीजन रुचिपूर्वक करते रहते हैं।

इसी स्वाध्यायधारा के क्रम में आदरणीय पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल की कथा-कृतियों का हमने गहनता से स्वाध्याय किया ही, शान्तिदेवी ने उनके नोट्स भी तैयार किए, डायरियों में उन कृतियों में आये सिद्धान्तों, सूक्तियों एवं लोकव्यवहार में उपयोगी लोकोक्तियों को चुना, मैंने इसमें उनका पूरा साथ दिया, सहयोग किया।

एक दिन मुझे भाव आया कि ये डायरियाँ मैं भारिल्ल सा. श्री रतनचन्दजी को दिखाऊँ। मैंने मम्मीजी श्रीमती कमलाजी भारिल्ल को दोनों डायरियाँ देकर उनसे पढ़ने का एवं पण्डितजी सा. से पढ़वाने का निवेदन किया। उन्होंने भारी प्रसन्नता प्रगट की एवं उन्होंने स्वयं तो वे डायरियाँ पढ़ीं ही,

भारिल्लजी सा. ने भी उन्हें पढ़कर पसंद किया और प्रकाशनयोग्य समझकर प्रकाशन की व्यवस्था भी कराई। इसकी मुझे बहुत खुशी है।

पण्डित टोडरमल स्मारक में होने वाले दैनिक प्रवचनों में मैं प्रारंभ से ही उपस्थित होता रहा हूँ और लगभग प्रत्येक प्रवचन के महत्वपूर्ण अंशों के नोट्स तैयार करता रहा हूँ, जिनसे मेरी भी अनेक डायरियाँ तैयार हो चुकी हैं और सपरिवार एवं परिचित लोगों के बीच में उन सूक्तियों पर चर्चा-वार्ता करता रहता हूँ। विश्वविद्यालय की सेवा से निवृत्त होने के पश्चात् अनेक प्रलोभनों का संवरण करके मैं अपना पूरा समय इनके स्वाध्याय चिंतन-मनन में ही करता हूँ तथा टेप प्रवचनों का अद्भुत आनन्द लेने का मेरा आठ-दस घंटों का दैनिक कार्यक्रम रहता है। स्मारक के विद्वान एवं प्रथम सत्र से वर्तमान सत्र तक के विद्यार्थियों से मेरा सौहाद्र बना रहता है। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ और जहाँ भी जाता हूँ स्मारक के वातावरण, कार्यकर्ताओं, प्राध्यापकों, संचालकों तथा छात्रों का गुणगान एवं हार्दिक प्रशंसा करने में मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ।

धर्मपत्नी शान्तिदेवी की आधि-व्याधि एवं उपाधि की विकट समस्याओं से निवारण करने का एकमात्र साधन उसका अध्ययन एवं महत्वपूर्ण अंशों का शताधिक डायरियों में संकलन करते रहना ही है। हम दोनों को ही नहीं वरन् हमारा यह प्रयास अन्य पाठकों को भी आत्मारोधना में सहायक बने, इसी भावना से यह प्रस्तुति समर्पित है।

– एम.पी. जैन,

एम.ए., एल.एल.बी

अन्तर्भावना

श्रीमती शान्तिदेवी जैन धर्मपत्नी श्री महावीर प्रसाद जैन, सेवा निवृत्त अतिरिक्त कुलसचिव राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने मेरी साहित्य सरिता में गहरे गोते लगाकर जो मणिमुक्ता खोजे हैं, वह गहरी लगन का ही सुफल है।

गोते औरों ने भी लगाये होंगे; पर इसतरह गहरे गोते लगाना और साहित्य सरिता की सतह से शिक्षाप्रद सुभाषितों (सूक्तियों) रूप मणि-मुक्ताओं का चयन करने का कार्य विरले ही करते हैं, कर पाते हैं।

यह काम श्रीमती शान्तिदेवी ने स्वान्तःसुखाय किया, एतदर्थ उनकी जितनी प्रशंसा की जाय कम ही होगी। उन्हें मेरा मंगल आशीर्वाद है। वे चिरंजीवी रहकर इसीतरह आजीवन जिनेन्द्र वचन रूप ज्ञानगंगा में अवगाहन करतीं रहें और रत्नत्रय के रत्न खोजतीं रहें, अपनी परिणति को निर्मल करतीं रहें, क्षयोपशमज्ञान में वृद्धि करतीं रहें।

आपके पति श्री एम.पी. जैन ने श्रीमती शान्ति देवी जैन द्वारा तैयार की गई डायरियों को न केवल पढ़ा, उनका सम्पादन भी किया; फिर भी उन्होंने मुझसे यह अपेक्षा की कि 'मैं भी उनके इस संकलन को देखूँ और यदि पाठकों के लिए उपयोगी लगे और प्रकाशन के योग्य समझें तो इसका प्रकाशन अवश्य किया जाय। इसके प्रकाशन से मुझे अति प्रसन्नता होगी।'

उनकी भावना को देखकर मेरी अन्तर्भावना हुई और उनके इस संकलन को मैंने आद्योपान्त पढ़ा और उनकी खोजी दृष्टि को देखते हुए मुझे कबीर का वह दोहा याद आया कि – 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पेठ।' और मुझे लगा कि शान्तिदेवी की भाँति जो भी ज्ञान के सागर में गहरे गोते लगायेगा, उसे अवश्य ही ज्ञानसागर के मणि-मुक्ता मिलेंगे।

यही सोचकर मुझे इस संकलन का नाम भी 'जिन खोजा तिनि पाईयाँ' रखना ही उचित लगा, जो उन्हें तो पसंद आया ही, पाठकों को भी पसंद आयेगा और पाठक श्रीमती शान्तिदेवी के इस सारभूत संकलन से लाभान्वित भी होंगे।

जिन्होंने पाँचों कथा-कृतियाँ एवं तीनों कहानियाँ पढ़ी हैं, उनकी प्रस्तुत सारसंक्षेप कृति के पढ़ने से पाँचों पुस्तकों की पुनरावृत्ति हो जायेगी और जिन्हें समयाभाव के कारण पाँचों पुस्तकों को पढ़ने का समय नहीं मिला, उन्हें पाँचों पुस्तकों का सार इस कृति के माध्यम से मिल जायेगा।

संभवतः इसे पढ़कर सभी कृतियों को पूरा पढ़ने की जिज्ञासा भी जग जाय। तथा इन कृतियों के पढ़ने से उनका मुक्ति पथ का पथिक बनने भाग्य जग जाय; क्योंकि इन ज्ञान और वैराग्यवर्द्धक कृतियों में भी जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि का और निर्ग्रन्थ पूज्य आचार्यों के ग्रन्थों का सार ही है।

इन सभी दृष्टिकोणों से इस कृति का प्रकाशन उपयोगी रहेगा - ऐसा मेरा विश्वास है। मुझे आशा है कि मेरे प्रिय पाठक अन्य कृतियों की भाँति इससे भी लाभान्वित होंगे।

– पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

संस्कार से ~

(१)

खान-पान की शुद्धि, अहिंसक आचरण, सांप्रदायिक सद्भाव और नैतिकता के प्रेरणादायक प्रसंग अच्छे संस्कारों में सहायक होते हैं। प्रस्तुत कृति में स्वाभाविक कथा-यात्रा के बीच-बीच में ऐसे प्रसंग सहजता से प्रस्फुटित होते गये हैं, जो पाठकों को विशेष लाभप्रद होंगे।

(२)

संस्कार-विहीन पीढ़ी स्वयं तो संकटग्रस्त है ही, परिवार और समाज के लिए भी घातक सिद्ध हो रही है, अतः समाज की सुरक्षा के लिए भावी पीढ़ी को सुसंस्कार देने की महत्ती आवश्यकता है।

(३)

सौभाग्यशाली हैं वे व्यक्ति, जिन्हें जन्म-जन्मान्तर और पीढ़ी-दर-पीढ़ी से तत्त्वज्ञान और सदाचार के संस्कार मिलते आ रहे हैं। तथा धन्य हैं उनका जीवन जो उन संस्कारों के सम्बल से और अपने उग्र पुरुषार्थ से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कीचड़ में पड़े कंचन की भाँति आत्मोन्नति के मार्ग पर चलते हुए लौकिक बुराईयों से बचे रहते हैं।

प्राणियों में संस्कार दो तरह से आते हैं, एक तो जन्म-जन्मान्तरों से और दूसरे पीढ़ी-दर-पीढ़ियों से। दोनों प्रकार के संस्कारों से नई पीढ़ियाँ प्रभावित होती है। अतः प्रत्येक माता-पिता की यह जिम्मेदारी है कि वे अपनी संतान को दोनों प्रकार से सुसंस्कारित करें और उन्हें कुसंस्कारों से बचायें।

सन्तान के बिगड़ने में माता-पिता की आवश्यकता से अधिक सावधानी और जरूरत से ज्यादा लापरवाही - दोनों का ही समान हाथ होता है।

(४)

जो सत्य का श्रवण रुचिपूर्वक करता है, उसमें उससे सत्य के संस्कार पड़ते हैं, इन सत्य के संस्कारों से धर्म प्राप्त होता है। भले तत्काल लाभ न हो, तो भी धार्मिक संस्कारों से भविष्य में धर्म प्राप्त होता है।

जिसका जिसके साथ जिसतरह का संस्कार होता है, प्रकृति उसे सहजरूप से ही मिला देती है। बचपन के संस्कारों के बीज निश्चित ही समय पर वातावरण का जल पाकर अंकुरित हो जाते हैं।

(५)

वैसे तो सब स्वतंत्र है, सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार अपने-अपने उपास्य की उपासना करते हैं, पर हमारे उपास्य देव तो सर्वज्ञ-वीतरागी जिनेन्द्र भगवान ही हैं न? अतः हमारे लिए वे ही प्रातः स्मरणीय हैं। इसलिए हम प्रातः सर्वप्रथम अपने उपास्य देव का स्मरण करने के लिए जयजिनेन्द्र करते हैं।

(६)

यदि कोई यह कहे कि - भारतीय अभिवादनों में साम्प्रदायिक और पुरातनपन्थ की गंध आती है तो क्या गुडमॉर्निंग में पाश्चात्य संस्कृति व आधुनिक सभ्यता की गंध नहीं है? और क्या पाश्चात्य संस्कृति में साम्प्रदायिक विचारों को स्थान नहीं है?

पाश्चात्य देशों के व्यक्ति अपने धर्म और सम्प्रदाय के प्रति जितने कट्टर रहे हैं, शायद ही कोई अन्य होगा, अतः हमें साम्प्रदायिक आरोप के भय से अपने उपास्य देव को छोड़ अन्य कुछ बोलकर हर एक के सामने गिरगिट की तरह रंग नहीं बदलना चाहिए। कोई हम से कुछ भी बोलकर अभिवादन करे, पर हम तो उसके उत्तर में जयजिनेन्द्र ही कहें।

(७)

जिन्होंने मोह-राग-द्वेष और इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ हो गये हैं, वे सब आत्माएँ जिनेन्द्र हैं। ऐसे जिनेन्द्र के उपासक वस्तुतः व्यक्ति के नहीं, बल्कि गुणों के उपासक हैं।

(८)

धर्म और दर्शनों की दृष्टि से भारत में विविधता होते हुए भी भारतीय-राष्ट्रीयता की भावना से सब एक हैं। सभी दार्शनिक एक-दूसरे के धर्म और दर्शनों के बारे में जानना भी चाहते हैं। समय-समय पर होने वाले सर्वधर्म सम्मेलन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। **राजनीति में धर्म तो रहे, पर धर्म में राजनीति का क्या काम?** पानी में नाव तो रहती है, पर यदि नाव में पानी आ गया तो वह नाव को ले डूबता है। यही स्थिति धर्म की है। यदि धर्म में राजनीति आ गई तो वह धर्म को भी बदनाम कर देती है।

(९)

जैनधर्म तो वैसे भी किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं है, जो इसका पालन करता है, यह तो उसी का है। देखो न! जैनदर्शन के प्रतिपादक चौबीसों ही तीर्थंकर जाति से क्षत्रिय थे, इसके विवेचक गौतम गणधर ब्राह्मण थे। उनके अनेक आचार्य भी क्षत्रिय और ब्राह्मण कुल के हुए हैं, पर आज इसके उपासक अधिकांश वणिक हैं।

(१०)

जैनधर्म की मान्यता के अनुसार प्रत्येक आत्मा द्रव्य स्वभाव से तो भगवान ही है, अपनी भूल को मिटाकर वह पर्याय में भी परमात्म दशा प्रगट कर सकता है। यह तो विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म है, आत्मा से परमात्मा बनने की कला सिखाने वाला धर्म है। इसका सम्पूर्ण व्यवहार भी अध्यात्म का ही साधक है।

(११)

खटमलों के कारण खाट और बिस्तर थोड़े ही फेंक दिये जाते हैं और मच्छरों की वजह से मकान थोड़े ही छोड़ दिया जाता है। इसीतरह किसी के द्वारा सच्चे धर्म की बुराई सुनकर उसे छोड़ा नहीं जाता।

(१२)

सप्त व्यसनों का त्यागी और अष्टमूलगुणों का धारी व्यक्ति ही आत्मा-

परमात्मा की बात समझ सकता है, साततत्त्वों की बात समझ सकता है, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहचान कर सकता है। अतः प्रत्येक जैन श्रावक को सप्त व्यसनों का त्यागी और अष्टमूलगुणों का धारी तो होना चाहिए।

सामान्यतः मद्य-मांस-मधु और बड़, पीपल, ऊमर, कटूमर और पाकर इन पाँचों उदुम्बर फलों का त्याग ही अष्ट मूलगुण है। मूलगुण अर्थात् मुख्य गुण, जिनके धारण किये बिना श्रावकपना ही संभव नहीं।

(१३)

शिक्षण के क्षेत्र में सर्वाधिक बुद्धिमान और प्रतिभावान व्यक्ति आना चाहिये; क्योंकि अध्यापक न केवल अक्षर ज्ञान देने वाला एक सामान्य व्यक्ति होता है; बल्कि वह बालकों के चतुर्मुखी व्यक्तित्व का विकास करने वाला एवं उनके चरित्र का निर्माता भी होता है।

आज के होनहार बालक ही तो कल के भारत के भाग्य विधाता राष्ट्र के नायक और देश के भावी कर्णधार बनने वाले हैं।

यदि कोई इंजीनियर भूल करेगा तो अचेतन मकान, सड़क, पुल, बाँध ही बिगड़ेगा, यदि कोई डॉक्टर भूल करेगा तो एकाध व्यक्ति का सुख चैन ही जायेगा, यदि एक न्यायाधीश भूल करेगा तो एक-दो व्यक्तियों के प्रति अन्याय ही होगा - ये कोई बड़ी हानियाँ नहीं है। हाँ; यदि अध्यापक भूल करेगा तो पूरे राष्ट्र का ढाँचा ही चरमरा जायेगा; क्योंकि अध्यापक भारत के भावी भाग्य-विधाताओं के चरित्र का निर्माता है, कोमलमति बालकों में नैतिकता के बीज बोनेवाला और अहिंसक आचरण तथा सदाचार के संस्कार देनेवाला उनका गुरु है। अतः उसे न केवल प्रतिभाशाली, बल्कि सदाचारी और नैतिक भी होना चाहिए।

(१४)

यद्यपि काम कोई भला-बुरा नहीं होता, भलाई-बुराई होती है व्यक्ति के विचारों में। यदि व्यक्ति के विचार नैतिक हैं तो हर काम नेक है, भला है और यदि विचारों में अनैतिकता है, लोभ-लालच है, स्वार्थ भावना है,

परिणामों में निर्दयता व क्रूरता है, लड़ाने-भिड़ाने की प्रवृत्ति है तो वह कोई भी काम क्यों न करे, उस काम को बुराई ही मिलेगी।

(१५)

ढोंगी और पाखंडियों के हाथ में पड़कर पूजा-पाठ, धर्म-ध्यान और प्रवचन जैसे पवित्र काम भी ढोंग और पाखण्ड के नाम से बदनाम हो रहे हैं। इसमें काम का क्या दोष है? केवल गलत हाथों में पड़ने से ही ये काम बदनाम हुए हैं न?

यही स्थिति वकालत की है। अन्यथा इस व्यवसाय में तो हम उल्टे सच बोलने के लिए बाध्य हैं; क्योंकि जिन्हें पुराण, कुरान और बाइबिल की साक्षी पूर्वक सच बोलने की प्रतिज्ञा कराई जाती है, वह और उसका सलाहकार असत्य कैसे बोल सकता है या बुलवा सकता है?

वकील का काम तो केवल इतना ही है न कि वह न्यायकर्ता और न न्याय माँगने वाले के बीच दुभाषिये का काम करे और सत्यपक्ष को उजागर करने में न्यायाधीश की मदद करे।

वकालत का काम एक निहायत पवित्र पेशा है, और यह काला कोट काली करतूतों को छिपाने का साधन नहीं, बल्कि सूरदास की उस काली कामरी का प्रतीक है, जिस पर कृष्ण भक्ति के रंग के सिवाय दूसरा रंग नहीं चढ़ता। अतः इस काले कोट पर भी अन्याय, अनीति, बेईमानी और धन के लालच का कोई रंग नहीं चढ़ चढ़ना चाहिए।

(१६)

वीतरागाय नमः, महावीराय नमः की तरह ही तो नमः शब्द के आगे 'ते' लगाकर नमस्ते बना है। अर्थात् आपको नमस्कार हो। ते नमः में स्थान परिवर्तन करने से नमस्ते बनता है, जिसका अर्थ पूज्य पुरुषों को नमन करना होता है।

(१७)

(८)

मित्र कभी मेहमान नहीं होता। मित्र तो सदा मित्र ही रहता है। मित्र के

आगे मेहमान का मूल्य ही क्या? मित्र और मेहमान की आपस में कोई तुलना ही नहीं है, एक पूर्व है तो दूसरा पश्चिम। मित्र के साथ कोई दुराब-छिपाव नहीं होता, दिलों की दूरी नहीं होती, दोनों की देह दो होती है और दिल एक।

मेहमान के साथ होता है औपचारिकताओं का पूरा पुलिन्दा, उसके सामने घर की कोई कमजोरी जाहिर नहीं की जा सकती, उसके आतिथ्य-सत्कार में कोई कमी नहीं रहनी चाहिए, मेहमान के कारण मन-मस्तिष्क पर ऐसा बोझ बना रहता है कि भले ही तुम्हें उधार ही क्यों न लेना पड़े, पर मेहमान का स्वागत-सत्कार तो भरपूर होना ही चाहिए। जबकि मित्र के साथ ऐसी कोई चिन्ता नहीं रहती।

मेहमान भले प्यासा बैठा रहेगा, पर पानी माँगकर नहीं पियेगा और मित्र चौके में जाकर अपने हाथ से भी चाय बनाकर पी लेगा।

मित्र कभी किसी बात का बुरा नहीं मानता और मेहमान यदि बात बात में बुरा न माने तो वह मेहमान कैसा? नाराज होना और मनवाना तो मेहमान का जन्म सिद्ध अधिकार है।

(१८)

चिन्ता हो या चिन्तन नींद तो दोनों में ही नहीं आती, पर चिन्ता से चिन्तन श्रेष्ठ है। चिन्ता एक मानसिक विकृति का नाम है और चिन्तन है विशुद्ध तत्त्व विचार। चिन्ता अशान्ति और आकुलता की जननी है और चिन्तन है निराकुलता और शान्ति का स्रोत। चिन्तार्ये चेतन को जलाती हैं और चिन्तन राग-द्वेष को, मन के विकारों को। चिन्ताओं के घेरे में आत्मा अनुपलब्ध रह जाता है और चिन्तन से होती है आत्मतत्त्व की उपलब्धि।

अतः विवेकीजन चिन्ताओं की राह छोड़कर चिन्तन की राह ही पकड़ते हैं, तत्त्व चिन्तन ही सदैव आदरणीय है, अनुकरणीय है। चिन्ता और चिन्तन का तो परस्पर साँप और नेवले की तरह जन्मजात वैर-विरोध है।

चिन्ताओं की परेशानी से बचने के लिए व्यक्ति अचेत हो जाना चाहता है, नींद की गोलियाँ खाकर सो जाना चाहता है।

(१९)

दुनिया में आज भी गुणों का ही आदर है, धन-वैभव का नहीं। भले ही तुम धनी हो, पर तुम्हारे धन से दुनिया को क्या लेना-देना है। घोड़े की पूँछ लम्बी होती है तो उससे वह अपनी ही मक्खी तो भगा सकता है, सवार को उसकी लम्बी पूँछ से क्या लाभ?

(२०)

जो चन्द्रमा पर थूँकने की कोशिश करता है, सारा थूँक लौटकर उसके मुँह पर ही गिरता है न? चन्द्रमा का उससे क्या बिगड़ता है? कुछ भी नहीं।

(२१)

भावुकतावश भीष्म प्रतिज्ञार्ये कर लेना एक बात है और उन्हें आजीवन निभाना दूसरी बात; अतः प्रतिज्ञा लेने के पहले दूरदृष्टि से विचार कर लेना चाहिए।

(२२)

कोई माता-पिता यदि अपने आँगन में कुँआ खुदवाता है तो इसलिए नहीं कि उसकी सन्तान उसमें डूब मरे, बल्कि इसलिए कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी सबको सदैव शीतल जल उपलब्ध रहे।

(२३)

गुलाब में फूल भी होते हैं और काँटे भी; पर हमें उससे केवल फूल ग्रहण करना है, काँटे नहीं। काँटों से तो उल्टा बचना है; क्योंकि ऐसा गुलाब का कोई पौधा नहीं, जिसमें फूल ही फूल हों, काँटे न हों। अतः सबको फूलों और काँटों की पहचान अवश्य होनी चाहिए, ताकि काटों से बच सकें।

(२४)

(९)

जैसे माँस पर गिद्ध मँडराते हैं, वैसे ही महिलाओं पर चारों ओर ये

कामांध नर-गिद्ध मंडराते ही रहते हैं। गिद्ध तो बेचारे मात्र मरे पशुओं का ही माँस नोचते-खाते हैं, पर ये कामी कूकर तो जिन्दा नारियों का माँस नोचने को फिरते हैं। कदाचित् किसी महिला में कहीं कोई कमजोरी देखी नहीं कि उसे डरा-धमकाकर, ब्लेकमेल कर उसे पथभ्रष्ट करने से नहीं चूकते।

(२५)

‘पानी पीजे छानकर, मित्र कीजे जानकर’ यह लोकोक्ति बताती है कि यदि बीमारियों से बचना चाहते हो तो पानी सदैव छानकर ही पीओ यदि विपत्तियों से बचना चाहते हो तो मित्र बनाने के पहले मनुष्य को अच्छी तरह से परख लो; क्योंकि दुनिया में ऐसे मतलबी मित्रों की कमी नहीं है, जो केवल स्वार्थ के ही साथी होते हैं, सम्पत्ति के ही संगती होते हैं विपत्ति पड़ने पर साथ छोड़कर भाग जाते हैं, अपने मतलब के लिए मित्रों को मुसीबत में डालने से भी नहीं झिझकते और समय-समय पर मित्र की कमजोरियों का अनुचित लाभ उठाने से भी नहीं चूकते।

(२६)

जो स्वयं सरल, सज्जन और ईमानदार होता है, वह सबको अपने समान ही समझता है।

(२७)

द्वार पर आये अतिथि का अनादर नहीं करना चाहिए, चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो?

(२८)

सुरा और सुन्दरी के व्यसन वस्तुतः ऐसे छोटे व्यसन हैं कि उनकी एक बार चाट लग जाने पर आसानी से नहीं छूटते।

(२९)

जो अपनी पत्नी का पेट नहीं पाल सकता और उसकी रक्षा नहीं कर सकता, इज्जत नहीं बचा सकता, उसे क्या हक है शादी करने का?

(३०)

किसी असहाय, अबला के साथ यदि कोई अन्याय करता है, उसकी मजबूरी का अनुचित लाभ उठाने जैसा कुत्सित कार्य करने की कुचेष्टा करता है तो उसके प्रति प्रतिशोध की भावना होना स्वाभाविक ही है; पर किसी अपराधी को सुधारने का उपाय उस अपराधी से घृणा करना नहीं है। सन्मार्ग पर लाने के लिए तो उसे अपना पड़ेगा, अपना बनाना पड़ेगा।

(३१)

कोई भी काम अपने-आप में छोटा या बड़ा नहीं होता। काम को छोटा या बड़ा मानते ही उसकी सफलता की संभावना ही क्षीण हो जाती है। यदि काम को छोटा समझ लिया गया तो उस काम को करने का मन ही नहीं होता, रुचि व उत्साह नहीं रहेगा।

यदि काम को अधिक बड़ा समझ लिया गया तो “इतना बड़ा काम मेरे वश की बात नहीं है”, इस विचार से उस काम को करने की हिम्मत ही नहीं होती। जबकि किसी भी काम में सफलता प्राप्त करने के लिए श्रम, साहस, उत्साह और ध्यान का पूरा केन्द्रीकरण आवश्यक होता है।

(३२)

काम कोई भला-बुरा नहीं होता, भलाई-बुराई होती है व्यक्ति के विचारों में। यदि विचार नैतिक हैं तो हर काम नेक हैं। यदि विचार अनैतिक हैं, तो वह कोई काम क्यों न करें उसमें अनैतिकता की गंध होने से उस काम को बदनामी मिलना ही है।

(३३)

आज बालकों को न तो कोई नैतिक शिक्षा मिल रही है और न कोई धार्मिक संस्कार। इसके बदले उन्हें आज मिल रही है विशुद्ध अर्थकारी शिक्षा और पश्चिमी भोग प्रधान भौतिक संस्कार।

बालकों के शिक्षा और संस्कारों के क्षेत्र में पुरुषों की तुलना में महिलाएँ अधिक काम कर सकती हैं। माँ को बालक की प्रथम पाठशाला कहा जाता है। अतः महिलाओं में जागृति लाने से यह काम अच्छी तरह हो सकता है।

(३४)

‘जब तक श्वांसा तब तक आशा’, इस उक्ति के अनुसार अपनी वांछित वस्तु को पाने के लिए व्यक्ति जीवन की अन्तिम श्वांस तक भी आशान्वित रहते हैं; अतः हताश होकर हिम्मत न हारो।

(३५)

केवल आदेशों और उपदेशों की भाषा से कभी कोई सुधर नहीं सकता। किसी भी व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाने के लिए पहले उसको अपने विश्वास में लेना और अपना विश्वास उसे देना आवश्यक होता है। उसे अपना पड़ता है, अपना बनाना पड़ता है। जब उसे आपके प्रति यह विश्वास हो जाये कि यह व्यक्ति मेरा हितैषी है और मात्र मेरे हित के लिए ही अपना सर्वस्व समर्पण कर रहा है, तब फिर वह स्वतः आपके लिए आत्मसमर्पण कर देता है और आपकी प्रत्येक बात मानने को तैयार हो जाता है।

(३६)

जो जिह्वा के लोलुपी पुरुष रात्रि में भोजन करते हैं, वे लोग न तो भूत, राक्षस, पिशाच और शाकनी-डाकनियों के दुष्प्रभाव से बच सकते हैं और न नाना प्रकार की व्याधियों-बीमारियों से ही बच सकते हैं, क्योंकि रात्रि में भूत-पिशाचों का भी संचार होता है और जीव-जंतुओं का भी, जिनके कारण बीमारियाँ पनपती हैं।

(३७)

जो आज त्रिलोक पूज्य देवाधिदेव सर्वज्ञ परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हैं, वे ही कभी पतित, पापी और पशु-पर्याय में थे। अतः पाप तो घृणा योग्य है, पर पापी नहीं।

(३८)

जिसकी होनहार भली हो और काललब्धि आ गई हो, उसे पलटते देर नहीं लगती। भगवान महावीर स्वामी के पूर्वभवों को ही देखो न! मारीचि

की होनहार भली नहीं थी तो तद्भव मोक्षगामी भरत चक्रवर्ती का पुत्र और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का पौत्र होकर भी अपने मिथ्यामार्ग से नहीं पलटा। और जब भली होनहार का समय आ गया तो शेर की क्रूर पर्याय में भी सुलट गया, सन्मार्ग पा गया। यह तो समय-समय की बात है।

(३९)

आत्मा की उपलब्धि के लिए तो केवल आगम, युक्ति और स्वानुभव ही असली प्रयोगशाला है, जिसके स्वानुभव में और प्रतीति में आ जावे तो ठीक, अन्यथा उसके प्राप्त करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

(४०)

जिसतरह अग्नि का धर्म उष्णता है, पानी का धर्म शीतलता है, उसीतरह आत्मा का धर्म ज्ञाता-दृष्टा रहना है। ज्ञान आत्मा का धर्म है और अज्ञान अधर्म। वीतरागता आत्मा का धर्म है और राग-द्वेष करना अधर्म। क्षमा आत्मा का धर्म है और क्रोध अधर्म।

(४१)

जिसकी जिसमें लगन लग जाती है, फिर उसे सर्वत्र वही-वही दिखाई देता है। लगन का तो स्वरूप ही कुछ ऐसा है। देखो न, जब लड़का-लड़की की परस्पर लगन (सगाई) हो जाती है, तब से एक दो घड़ियाँ भी ऐसी नहीं जाती, जब एक को दूसरे की याद न आती हो।

(४२)

पुराणों का भी अपना अलग आकर्षण होता है। भले ही वे आज की आधुनिक शैली में नहीं हैं, तथापि अपनी ओर आकर्षित करने की अद्भुत क्षमता उनमें हैं। पुराणों में मुख्यरूप से तो महापुरुषों के आदर्श चरित्र एवं उनके पूर्वभवों का ही वर्णन होता है, परन्तु बीच-बीच में नीतिवाक्यामृत, ऋषियों के प्रेरणादायक उपदेश एवं धर्ममार्ग में लगाने और पापाचरण से हटाने के प्रयोजन से लिखे गये अनेक उपकथानक भी होते हैं।

(४३)

यद्यपि एक कार्य की निष्पत्ति में अनेक कारण मिलते हैं और उनमें व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है; किन्तु अन्य कारणों में निमित्तकारण भी विस्मृत करने योग्य नहीं है; क्योंकि सज्जन पुरुष दूसरों के द्वारा किये गये उपकारों को भी कभी नहीं भूलते।

(४४)

संतान के जीवन को सुखमय बनाने के लिए पैसा ही सब कुछ नहीं होता, संतान पर व्यक्तिगत ध्यान देना भी अति आवश्यक होता है, थोड़ा-सा भी ध्यान हटा नहीं कि संतान पतन के किसी भी गहरे गड्ढे में गिर सकती है।

(४५)

संतान पैदा करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उनका सही ढंग से लालन-पालन, देख-भाल और पढ़ाने-लिखाने के साथ उनके सम्पूर्ण भविष्य को उज्ज्वल बनाना होता है, आज के इस महंगाई के युग में तथा अत्यन्त व्यस्त जीवन में कोई कितना भी साधन सम्पन्न क्यों न हो, दो संतानों से अधिक का दायित्व वहन नहीं कर सकता।

(४६)

पुत्रों के प्रति माता-पिता का जितना दायित्व है; उससे भी कहीं बहुत अधिक दायित्व पुत्रियों के प्रति होता है; क्योंकि यदि योग्य घर-वर की कमी के कारण उनका जीवन सुखी नहीं रह सका तो उनके माता-पिता न केवल उत्तरदायी ही होते हैं, बल्कि पुत्रियों को दुःखी देखकर स्वयं भी दुःखी होते हैं और यह पीड़ा जीवनभर सहनी पड़ती है। यदि देवयोग से रूप-रंग या गुणों में हीन हुई, तब तो लाखों रुपये खर्च करने पर भी योग्य घर वर मिलना दुर्लभ हो जाता है।

(४७)

जो पूजा का सही स्वरूप और प्रयोजन समझकर प्रतिदिन भगवान के दर्शन-पूजन करता है, वह एक न एक दिन स्वयं भगवान बन जाता है।

(४८)

साधु नगर में गृहस्थी के बीच नहीं रहते; क्योंकि गृहस्थों का सान्निध्य, नगर का कोलाहल तथा गृहस्थों के आवास उनकी आत्मसाधना के अनुकूल नहीं होते।

यद्यपि नग्न दिगम्बर साधुओं को जिनदर्शन पूजन एवं प्रक्षाल आदि करना अनिवार्य नहीं है; क्योंकि जो स्वयं पूज्य और दर्शन देने योग्य बन गये हैं, उन्हें अब पूजन से कोई प्रयोजन नहीं रहा; पर जहाँ जिनमन्दिर होता है, वहाँ दर्शन करने वे जाते अवश्य हैं।

(४९)

संस्कारों की तो बात ही निराली है। देखो न! चिड़ियों को ऐसे सुविधा सम्पन्न और सभी तरह के सुरक्षा साधनों से युक्त घोंसला बनाने का प्रशिक्षण कौन देता है? मधुमक्खियों को फूलों का रस एकत्रित कर मधु बनाने और सुरक्षित रहने के लिए मोमयुक्त वातानुकूलित छत्ता बनाने का प्रशिक्षण कौन देता है? चींटियों को सामूहिक रूप से संगठित होकर अन्नकण इकट्ठा करने की शिक्षा कहाँ से मिलती है? पशुओं को जन्मते ही पानी में तैरना किसने सिखाया? और जाने ऐसे कितने विचारणीय प्रश्न हैं जो हमारे पुनर्जन्म और पूर्व के संस्कारों को सिद्ध करते हैं।

ये सब उनके जन्म-जन्मान्तर और वंश परम्परागत संस्कारों के ही सुपरिणाम हो सकते हैं, जो उन्हें अपनी पूर्व की पीढ़ी-दर-पीढ़ी से मिलते आ रहे हैं।

(५०)

कुसंस्कारों का कुप्रभाव भी कहाँ तक हो सकता है, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। यदि हम अपनी संतान को दुराचारी नहीं देखना चाहते हैं तो हमें अपने दुराचारों को तिलांजलि देनी होगी और अपने बच्चों को सदाचार के संस्कार देने होंगे।

दूसरे, कुछ संस्कार ऐसे भी होते हैं, जो हमारे पूर्वभव-भवान्तरों से हमारे साथ आते हैं। राजुल-नेमीकुमार की विगत नौ भवों की पुरानी प्रीति कमठ और पार्श्वकुमार का पुराना इकतरफा वैर-विरोध तो आगम सिद्ध व लोक प्रसिद्ध है ही, और भी ऐसे अनेक पौराणिक उदाहरण है जो पूर्वभवों से चले आ रहे संस्कारों को सिद्ध करते हैं।

यदि हम भी अपनी संतान को सुखी, समुन्नत, सदाचारी और सब तरह से समृद्ध देखना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम भी उनमें ऐसे ही धार्मिक व नैतिक संस्कार डालें, जैसे वायुभूत के मामा ने अपने भानजे में डाले थे।

(५१)

जंगल में जमीन पर पड़े हुए वृक्षों के बीज जिसतरह हवा पानी पाकर अपने आप अंकुरित हो जाते हैं, उसीभाँति प्राणियों के जन्म-जन्मान्तरों के पूर्व संस्कार अनुकूल वातावरण पाकर विकसित हो जाते हैं। यदि जमीन में बीज ही न पड़ा हो तो अकेला हवा और पानी आदि का बरसाती वातावरण क्या कर सकता है? चिंगारी ही न हो तो अकेली हवा और ईंधन अग्नि का उत्पादन नहीं कर सकते।

(५२)

धन्य हैं वे माता-पिता जो अपनी संतान को भौतिक धनवैभव के साथ-साथ धर्म के संस्कार भी दे जाते हैं, णमोकार मंत्र भी दे जाते हैं और दे जाते हैं नित्य बोधक जिनवाणी, जिसे होनहार बालक समय पाकर पढ़ते हैं और लाभान्वित होते हैं।

(५३)

शास्त्र-पुराण ही इस अर्थ में नित्यबोधक हैं कि उन्हें जब जी चाहे उठाकर पढ़ा जा सकता है। इस कलिकाल में सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि तो दुर्लभ है ही, निर्ग्रन्थ गुरु भी हर समय उपलब्ध नहीं हो सकते; क्योंकि

उनकी वृत्ति स्वाधीन है, अतः सहजता से उनका समागम भी सम्भव नहीं है और रात में तो वे बोलते भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में एक मात्र शास्त्र ही तो हमारे लिए शरणभूत हैं।

(५४)

घूस न लेने की प्रतिज्ञा तो हम तुम कोई भी कर सकता है, पर इस घूसखोरी के युग में घूस न देने की कसम कैसे खाई जा सकती है? पर घूस देना भी हर एक के बलबूते की बात नहीं है। इस कारण सीधे-सादे सज्जनों का, ईमानदार आदमियों का तो घर से बाहर निकलना ही कठिन हो गया है।

(५५)

मरने के बाद माता-पिता के प्रति भक्ति-भावना कुछ अधिक ही हो जाती है। उनके जीते-जी भले ही हम उनसे पानी की भी न पूछ पाये हों, पर मरने के बाद उनके चित्रों पर मालायें अवश्य डालते हैं। काश! उनके जीवनकाल में यदि हम उनकी भावनाओं की कुछ कद्र कर पायें तो उनकी आत्मा को अधिक संतुष्टि दे सकते हैं।

(५६)

काम! काम!! काम!!! जब देखो तब काम, घर में काम, बाहर काम, जहाँ जाओ वहाँ काम - इस कारण न सुबह चैन न शाम को चैन, न दिन में चैन न रात में चैन, चौबीसों घंटे बेचैन। ऐसा काम भी किस काम का? जिसके कारण खाना-पीना भी हराम हो जाता है, बाल-बच्चों को संभालना भी कठिन हो जाता है।

(५७)

यदि पुत्र सुपुत्र है तो भी धन का संचय व्यर्थ है और यदि पुत्र कुपुत्र है तो भी धन का संचय व्यर्थ ही है; क्योंकि यदि पुत्र सुपुत्र है, योग्य है, होनहार है तो स्वयं धर्नाजन कर लेगा। और यदि वह कुपुत्र है, तब सारा अर्जित धन विषयभोगों में बर्बाद कर देगा।

(५८)

जिनमें त्रस जीवों की और बहुस्थावर जीवों की हिंसा हो - ऐसा भोजन तो अभक्ष्य होने से खाने योग्य ही नहीं है; क्योंकि हिंसाजनक अभक्ष्य भोजन अहिंसक समाज कैसे खा सकता है।

(५९)

अभक्ष्यपना केवल अपने स्वास्थ्य की हानि-लाभ से ही सम्बन्ध नहीं रखते, वरन इनका सम्बन्ध अपने आत्मा की क्रूरता और परजीवों के घात से भी है। इन अभक्ष्यों का पाँच भागों में वर्गीकरण किया गया है। १. त्रसघात २. बहुघात ३. नशाकारक ४. अनिष्ट और ५. अनुपसेव्य।

(६०)

सभी प्रकार का मांसाहार तो चलते-फिरते त्रसजीवों के घात से बनता है, अतः वह तो त्रसघात नामक अभक्ष्य है ही, मुर्गी के सभी प्रकार के अंडों से बने खाद्य-पदार्थ भी मांसाहार ही है। जिन अंडों से मुर्गी के चूजे (बच्चे) पैदा नहीं होते उन अंडों में भी सूक्ष्म त्रसजीव निरंतर पैदा होते रहते हैं, अतः वे भी मांसाहार ही है। उन्हें शाकाहारी कहकर नहीं खाया जा सकता।

(६१)

शराब और शहद में भी अनंत जीव निरंतर पैदा होते रहते हैं। शराब तो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होने से अनिष्ट भी है, शहद भले अनिष्ट न हो, पर उसमें न केवल फूलों का रस ही होता है; बल्कि फूलों के रस के साथ असंख्य मधुमक्खियों के अंडे भी मिल जाते हैं। मधुमक्खियों की लार एवं मल-मूत्र भी मिल जाता है; क्योंकि उनके छत्ते में न तो अलग से कोई युरिनल (पेशाबघर) होता है और न संडास। तथा फूलों का रस लाने के लिए उनके पास केवल मुँह ही बर्तन के रूप में होता है, जिसे न धोने-मांजने की व्यवस्था है, न दातुन-कुल्ला करने का कोई टूथपेस्ट और मंजन। वे मक्खियाँ उसी मुँह से गंदगी भी खाती है और उसी गंदे मुँह में फूलों का रस भर कर लाती है।

अब आप ही सोच लीजिए, मधु (शहद) भक्ष्य या अभक्ष्य? हमारे विचार से तो शहद खाना तो दूर, छूने लायक भी नहीं है; क्योंकि वह मल-मूत्र और थूक-लार का मधुर मिश्रण है।

(६२)

पुण्योदय से प्राप्त संयोगों की अनुकूलता में जो व्यक्ति जितना हर्षित होता है, प्रसन्न होता है; पापोदय जनित प्रतिकूलताओं में उसे उतना ही अधिक दुःख होता है, खेद होता है। वस्तुतः अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में तत्त्वज्ञान के बल से समभाव रखना साम्यभाव से तटस्थ रहना ही सुखी होने का सच्चा उपाय है।

(६३)

एकत्व निश्चय को प्राप्त भगवान आत्मा ही लोक में सब से सुन्दर है। जो एक बार उस शुद्धात्मा का दर्शन कर लेता है, उसे फिर संसार में कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जैसे - जो एक बार दाख चख लेता है फिर उसे महुआ नहीं भाता। जिसे अमृत तुल्य मीठा पानी मिल जाय, फिर भला वह समुद्र का खारा पानी क्यों पियेगा? जिनके घर देवांगना तुल्य गृहणियाँ हों, वे वेश्याओं के यहाँ जाकर अपना धन क्यों लुटायेंगे?

पर अनादिकाल से इन कामी-भोगी जीवों ने अपनी विवेक की आँख से कभी भगवान आत्मा को देखा ही नहीं है, इसीकारण ये विषयों में फँसे हैं। एक बार यदि यह भेदज्ञान की आँख से उस भगवान आत्मा को देख लेता तो संसार के भोगों से स्वतः विरक्त हो जाता और कर्मबंधन से मुक्त हुए बिना नहीं रहता।

(६४)

ऐसा अखण्ड पुण्य तो बिरलों के ही होता है, जिसके फल में सब प्रकार की अनुकूलतायें एकसाथ मिलती हैं। हम जैसे अधिकांश लोगों का तो दाँत-चनों जैसा खेल ही होता है। जब दाँत होते हैं तब चबाने को चने

तक नसीब नहीं होते और जब पुण्य योग से सब कुछ भोग सामग्री उपलब्ध हो जाती है, तब तक आँतें इतनी कमजोर हो जाती हैं कि मूंग की दाल का पानी भी नहीं पचता।

(६५)

कोई कितना भी धन सम्पन्न क्यों न हो? पर वह तृप्त नहीं होता। भला-ईधन अग्नि को कभी तृप्त कर सका है? जिसतरह ईधन पाकर अग्नि और अधिक भभक उठती है, इसीतरह आशा रूपी अग्नि धनादिक भोग सामग्री पाकर तृप्त होने के बजाय और अधिक भभकती है। कहा भी है -

आशा गर्तः प्रति प्राणी, यस्मिन् विश्व अणूपमम् ।
कश्मिद् कियत आयति, वृथैव विषयेषणा ॥

अन्याय से पराया धन हड़पना तो उस बरसाती नदी-नालों में आए गंदे-मटमैले पानी की तरह होता है जो इधर से आया उधर बह गया, न वह कभी किसी के पीने के काम आता है और न स्थायी रूप से टिकता ही है। प्यास बुझाने वाला पीने का शुद्ध पानी जो शुद्ध निर्मल जलस्रोतों से निरन्तर आता है, वही स्थायी होता है।

(६६)

परम्परागत प्रत्येक पुरानी बात बुरी ही होती हो, गलत ही हो, यह बात भी नहीं है और प्रत्येक नवीन बात सही ही हो, भली ही हो यह भी कोई नियम नहीं है। वस्तुतः अति ही सर्वत्र बुरी होती है। इसलिए किसी मनीषी ने ठीक ही कहा है कि 'अति सर्वत्र वर्जयते।'

(६७)

शादी-विवाह के बहुत से रीति-रिवाज और परम्परायें बहुत अच्छे होते हैं, हमें उन्हें तोड़ना भी नहीं चाहिए। पर अविवेक के कारण आज दोनों पक्षों में हो रही अति से अनेक अच्छे रीति-रिवाज और परम्परायें भी बदनाम हो गई हैं। उनमें सबसे अधिक बदनामी दहेज को मिली है।

वस्तुतः दहेज का परम्परागत रिवाज बुरा नहीं था; बल्कि यह एक अच्छी परम्परा थी। यह कभी किसी बुद्धिमान व्यक्ति की सूझ-बुझ का सुखद परिणाम रहा होगा। पर आज तो इसका स्वरूप ही बदल गया है, विकृत हो गया है। यह पहले जितनी सुखद थी, आज उससे कहीं बहुत अधिक दुःखद बन गई है। उस दुःखद स्थिति के मूल कारणों को न देखकर कुछ लोग दहेज जैसी पवित्र परम्परा का ही विरोध करने लगे हैं। दहेज को ही कोसने लगे हैं। ऐसे लोग दहेज का सही स्वरूप, अर्थ व उसका मूल प्रयोजन नहीं जानते।

दहेज वस्तुतः कन्या के माता-पिता, भाई-भाभी, बंधु-बान्धव, कुटुम्ब-परिवार और रिश्तेदारों द्वारा अपनी-अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार प्रेमपूर्वक सहर्ष दिया गया वह उपहार है, जिसे प्रदान कर वे प्रसन्न होते हैं, कृतार्थ होते हैं। इसमें परस्पर प्रेम और सहयोग की भावना भी निहित होती है।

इस परम्परा को प्रचलित करने के पीछे एक पवित्र उद्देश्य यह भी रहा होगा कि जिन साधन विहीन, अभावग्रस्त लड़के-लड़कियों को परिवार और समाज के लोग वर-वधू के रूप में गृहस्थ जीवन में प्रवेश कराते हैं, उनकी प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने का उत्तरदायित्व भी तो उनके परिवार व समाज का है। अतः सभी घर-कुटुम्ब के लोग, रिश्तेदार, पंच और समाज के लोग मिलकर नेग-दस्तूरों के रूप में दैनिक आवश्यकता की वस्तुयें देकर उन वर-कन्या का एक नया घर बसाते हैं। उसमें जितनी जिम्मेदारी कन्या पक्ष की है, उतनी ही वरपक्ष की भी है।

वस्तुतः देखा जाए तो दहेज कोई समस्या नहीं, समस्या है वर-पक्ष के द्वारा दहेज की माँग करना, दहेज का सौदा करना, दहेज देने के लिए कन्यापक्ष को येन-केन-प्रकारेण बाध्य करना। इसमें वर पक्ष वाला बदनाम हो गया और कन्या पक्ष वाला दया का पात्र दीन बन गया।

अतः विरोध दहेज का नहीं, दहेज प्रथा का होना चाहिए; क्योंकि दहेज देने एवं लेने को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाना ठीक नहीं है।

कुछ लोग अधिक दहेज मिलने में अपनी इज्जत समझते हैं तो कुछ बिल्कुल भी दहेज न लेने में, स्वीकार न करने में अपनी इज्जत समझते हैं, पर वे दोनों ही प्रकार के लोग भूल में हैं, वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ हैं।

(६८)

प्रशंसा और पुरस्कार एक ऐसी संजीवनी है, जो अनजाने ही अन्तरात्मा में नवीन चेतना का संचार कर देती है। यह एक ऐसा टॉनिक है, जिसके बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ही अवरुद्ध हो जाता है। वस्तुतः यह मानव मात्र की वह मानसिक खुराक है, जिसके बिना मानव में काम करने का उत्साह उत्पन्न ही नहीं होता। जिस तरह मनुष्य का शरीर संतुलित भोजन के अभाव में रोगी हो जाता है, कमजोर हो जाता है; उसी तरह संतुलित प्रोत्साहन प्रशंसा की कमी के कारण मानव की कार्य क्षमता कम हो जाती है।

प्रशंसा व प्रोत्साहन एक ऐसी रामबाण अचूक औषधि है, जो हताश, हतोत्साहित व निरूत्साहित मानवों के मनो में आशा, उमंग व उत्साह भर देती है। प्रशंसा की खुराक देकर आप एक भूखे-प्यासे व्यक्ति से भी मनचाहा कठिन से कठिन और छोटे से छोटा काम करा सकते हैं।

दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो प्रशंसा पाने और यश खाने की आदत एक बड़ी भारी मानवीय दुर्बलता भी है, जिसका चतुर चालाक व वाकपटु व्यक्ति दुरुपयोग भी कर लेते हैं। स्वार्थी लोग इस मानवीय कमजोरी को पहचान कर झूठ-मूठ प्रशंसा करके अपने स्वार्थ सिद्ध करने के प्रयास भी करते हैं। अतः यश की भूख और प्रशंसा की प्यास बुझाते समय प्रशंसक के हृदय की पवित्रता की पहचान और तदनुसार अपनी योग्यता का आकलन एवं आत्म-निरीक्षण तो कर ही लेना चाहिए।

(६९)

बुद्धिमान व्यक्ति वह है, जो इसका उपयोग व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए एक चतुर वैद्य की तरह इस प्रकार करते हैं कि किसको/कब/कितनी मात्रा में प्रशंसा की खुराक दी जाय? जो उसके सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो सके।

(७०)

स्वाध्याय तो कहते ही उसे हैं जिसमें विचार मंथन हो। जिसतरह दही को विधिवत बिलोए बिना मक्खन हाथ नहीं आता, उसीप्रकार वस्तु स्वरूप का स्याद्वाद शैली से मन्थन किए बिना तत्त्व हाथ नहीं आता।

(७१)

यह कोई नियम तो है नहीं कि जिन-जिनको बाह्य में दारुण दुःख होता दिखाई दे, उन सबके परिणाम भी संक्लेश रूप ही हों, विशुद्ध भी तो हो सकते हैं। सम्यग्दृष्टि नारकी जीवों को ही देखो न? नरकों में बाह्य संयोगों की कैसी प्रतिकूलता है? निरन्तर अनन्त दुःख, एकक्षण को भी चैन नहीं; फिर भी सम्यग्दृष्टि जीव समता रस का ही पान किया करते हैं। कहा भी है -

चिन्मूरत दृग धारिन की मोहि, रीति लगत कछु अटापटी।

बाहर नारकिकृत दुःख भोगें, अन्तर समरस गटागटी ॥

इस प्रकार दारुण दुःख में भी विशुद्ध परिणाम रह सकते हैं।

इसका दूसरा ज्वलन्त प्रमाण हमारे सामने पाँच पाण्डवों का है। यदि बाहर के दारुण दुःख देखकर उनके अन्तरंग परिणामों को संक्लेश रूप ठहराया जाएगा, तब तो फिर उनमें से तीन को मोक्ष प्राप्त होना और दो का सर्वार्थसिद्धि में जाने की बात ही विवाद में पड़ जायेगी, जो निर्विवाद रूप से सर्वज्ञदेव द्वारा कथित आगम सिद्ध तथ्य है।

(७२)

देवपर्याय की प्राप्ति भी बिना विशुद्ध परिणामों के संभव नहीं है, अतः दृढसूर्य चोर के परिणाम गमोकार मंत्र का निमित्त पाकर अपनी तत्समय की योग्यता से नियम से विशुद्ध हुए थे, अन्यथा उसे देवगति में जाना कैसे संभव है?

(७३)

किसी भी मौलिक कामना से की गई पंच परमेष्ठी की उपासना तीव्रकषाय होने से पापभावरूप ही है। फिर भी दृढ़सूर्य चोर को जो स्वर्ग की प्राप्ति होने का उल्लेख पुराणों में है उस सन्दर्भ में विचारणीय यह है कि - 'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि णमोकार मंत्र के उच्चारण करने से दृढ़ सूर्य चोर का ध्यान प्यास जनित पीड़ा के दारुण दुःख से हटकर पंच परमेष्ठी के स्वरूप पर चला गया हो और भली होनहार के कारण उसे अपने चौरकृत्य पर पश्चाताप के साथ णमोकार मंत्र की आराधना के फलस्वरूप विशुद्ध परिणाम हो गये हों, जिनका फल साक्षात् स्वर्ग ही है।

(७४)

क्या दिगम्बर और क्या श्वेताम्बर, सम्पूर्ण जैन समाज एकमत से णमोकार महामंत्र को अपना आदर्श मंत्र मानती है और सभी मंत्रों में इसको सर्वश्रेष्ठ महामंत्र निरूपित करती है, क्योंकि इस महामंत्र में उन अरहंत सिद्ध आदि वीतरागी पंच-परमेष्ठी को नमन किया गया है, जो सबको समान रूप से मान्य एवं सभी को परमपूज्य और आराध्य हैं।

(७५)

देखो, सम्पूर्ण जिनागम को चार शैलियों में प्रतिपादित किया गया है, जिन्हें चार अनुयोग कहा जाता है। वे हैं द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोग। सम्पूर्ण पौराणिक कथानक प्रथमानुयोग की शैली में लिखे गये हैं।

प्रथमानुयोग में केवल प्रयोजन की मुख्यता से कथन होता है। इस प्रकरण में केवल इतना प्रयोजन है कि जो लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए अन्यमत-मतान्तरों द्वारा पीर-पैगम्बर या रागीद्वेषी व अल्पज्ञ देवी-देवताओं की शरण में चले जाते हैं। वे वहाँ जाकर गृहीत मिथ्यात्व में न पड़ें, णमोकार मंत्र द्वारा पंच परमेष्ठी का स्वरूप पहचान कर वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा व उन्हीं के पथानुगामी साधुओं की शरण में आएँ, ताकि वे गृहीत मिथ्यात्व के महापाप से बच सकें और सच्ची बात समझने के निमित्तों से दूर न हो जावें।

(७६)

ऊपर से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले कथन भी वस्तुतः परस्पर विरोधी नहीं होते; क्योंकि दोनों कथनों के प्रयोजन बिल्कुल पृथक-पृथक होते हैं।

(७७)

यदि कोई निकट भव्यजीव अपनी अज्ञानमय पूर्व पर्याय में पापाचरण या पापभाव करता है तो उसे उसका फल भोगना ही पड़ता है। चाहे बाद में वह कितना ही बड़ा धर्मात्मा क्यों न हो जावे? अतः जिसे संकटों में पड़ना स्वीकार न हो, जो दारुण दुःखों से बचा रहना चाहता हो; उसे पापाचरण से बचना ही चाहिए।

(७८)

यदि वस्तुतः कारण-कार्य की मीमांसा की जाय तब तो प्रत्येक कार्य के सम्पन्न होने में अनेक कारण विद्यमान रहते हैं; श्रेय केवल बाह्य निमित्त कारण को ही दिया जाता है, क्योंकि निमित्त रूप से भी किसी के द्वारा किये गये उपकार को सज्जन भूलते नहीं हैं। कहा भी है - "नहिं कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।"

(७९)

णमोकार मंत्र का सुनना तो मात्र निमित्त कारण था। साथ में उन जीवों की होनहार भी वैसी ही थी तथा उनके परिणामों की विशुद्धि (कषाय की मंदता) भी ऐसी हो गई थी कि उन परिणामों से देवगति का बन्ध हो, अन्य नरकादि गति का नहीं एवं काललब्धि भी वैसी ही आ गई थी। इसकारण उसके परिणाम भी उसी जाति के हुए, जिनसे सद्गति होती है। साथ में निमित्त रूप में णमोकार मंत्र भी कान में पड़ गया था और उस पर विचार करके अरहंतादि के प्रति भक्ति श्रद्धा भी हो गई थी।

इसप्रकार जब सभी कारण मिलते हैं काम तो तब होता है, परन्तु कथन करने में अधिकतर निमित्त की ही मुख्यता रहती है। अपेक्षाएँ भिन्न-भिन्न

होती हैं। अतः स्वाध्याय के समय इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक होता है कि कहाँ/किस अपेक्षा से कथन किया गया है, किसको मुख्य व किसको गौण किया गया है। ध्यान रहे, जिसे गौण किया हो, उसका निषेध नहीं मान लेना चाहिए।

(८०)

णमोकार मंत्र में उन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, जिनमें कुछ तो पूर्ण वीतरागी हैं और कुछ वीतरागता के मार्ग पर निरंतर अग्रसर हैं तथा जिन्हें यह देखने-सुनने की फुरसत ही नहीं है कि उन्हें कौन नमस्कार कर रहा है और कौन नहीं कर रहा है?

अरहंत व सिद्ध भगवान पूर्ण वीतरागी हैं, उन्हें तो तुम्हारे नमस्कार से कोई प्रयोजन ही नहीं है तथा जो एकदेश वीतरागी आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी हैं उनको भी किसी के नमस्कार करने न करने से कोई प्रयोजन नहीं है।

इस महामंत्र में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के सिवाय न तो किसी लौकिक कार्य विशेष के करने-कराने या होने की गारंटी दी गई है और न कहीं कोई आश्वासन ही दिया गया है। हाँ, यह एक गारंटी अवश्य है कि जो व्यक्ति इस महामंत्र का स्मरण करेगा, उसमें कहे गये पंच परमेष्ठी के स्वरूप का बारम्बार विचार करेगा; उसके मन में उस समय कोई पाप भाव उत्पन्न ही नहीं होगा। यह परमात्मा की तरह ही बाहर और भीतर से पवित्र हो जायेगा।

जब तक मन में पंचपरमेष्ठी का स्मरण रहेगा तब तक पापभाव पैदा नहीं होंगे, आगे-पीछे की उसकी कोई गारंटी नहीं है, भूतकाल में किये गये पापों का फल भी भोगना पड़ सकता है?

अकेले स्मरण से ही कार्य की सिद्धि नहीं होती। कार्य की सिद्धि तो अनेक कारणों से ही होती है, पर जिस कारण की महिमा बतानी होती है, उसे मुख्य करके शेष कारणों से गौण किया जाता है। यही जिनवाणी में प्रथमानुयोग के कथन की शैली है।

(८१)

जो व्यक्ति णमोकार मंत्र के माध्यम से पंच परमेष्ठी का स्वरूप भली-भाँति जानकर उनका स्मरण करता है, भक्ति करता है, बहुमान करता है, वह अवश्य ही उनके द्वारा बताये गये मुक्ति के मार्ग पर चलेगा। जब वह स्वयं उनके बताए गये मुक्ति के मार्ग पर चलेगा तो वह एक न एक दिन पंचपरमेष्ठी पद में शामिल भी हो जायेगा।

ऐसी स्थिति में वह पूर्वकृत पापों से बंधे कर्मों की निर्जरा भी करेगा। इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर ही णमोकार मंत्र के जाप सर्वपापों का नाश करने वाला कहा गया है।

(८२)

जब जीवन शक्ति ही समाप्त हो जाती है तो सारे के सारे प्रयत्न धरे रह जाते हैं। मौत के आगे किसी का वश नहीं चलता। यदि पड़ोसी, डॉक्टर, और दवायें ही बचाती होती तो डॉक्टरों ने अपने सगे माँ-बाप एवं प्रिय कुटुम्ब परिवारजनों को क्यों नहीं बचा लिया?

वास्तविक बात यह है कि उस मरीज की उपादान की योग्यता ही ऐसी है, जिसे जहाँ जब तक जिन संयोगों में अपनी स्वयं की योग्यता से रहना होता है, तब तक उन्हीं संयोगों के अनुरूप उसे वहाँ उसी रूप में सब बाह्य कारण सहज ही मिलते जाते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तो कुछ करता ही नहीं, द्रव्यों का समय-समय होने वाला परिणमन भी स्वतंत्र है। ऐसा ही प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है।

(८३)

जिसे वस्तु के स्वतंत्र परिणमन में श्रद्धा-विश्वास हो जाता है, उसे आकुलता नहीं होती। भूमिकानुसार जैसा राग होता है, वैसी व्यवस्थाओं का विकल्प तो आता है; पर कार्य होने पर अभिमान न हों तथा कार्य न होने पर आकुलता न हो; तभी कारण-कार्य व्यवस्था का सही ज्ञान है - ऐसा माना जायेगा।

(८४)

धर्म के क्षेत्र में परीक्षा प्रधानी होना धर्म के प्रति अश्रद्धा नहीं है। परीक्षा करके जो बात स्वीकार की जाती है, वही श्रद्धा अटूट होती है।

(८५)

स्वाध्याय में शंकायें उत्पन्न होना तो स्वाध्याय का शुभलक्षण है। शंकाएँ या तो सर्वज्ञ को नहीं होतीं या उन अल्पज्ञों को जो केवल स्वाध्याय का नियम निभाने में ही धर्म समझ बैठे हैं। जिसे जरा भी जिज्ञासा होती है, उसे तो शंकायें उत्पन्न होती ही हैं।

जिसतरह पानी स्वयं अपना रास्ता बना लेता है, खोज लेता है; ठीक उसीतरह जिज्ञासु भी अपनी शंकाओं के अधिकांश समाधान तो स्वयं ही खोज लेते हैं। फिर भी सामूहिक स्वाध्याय और समय-समय पर सत्संग और तत्त्वचर्चा भी उपयोगी है। जिसप्रकार दही मथने से मक्खन निकलता है, उसीतरह तत्त्व का मंथन करने से सुख-शांति और समताभाव प्रगट होता है, धर्म प्रगट होता है; अतः निःशंक होकर शंका-समाधान करना चाहिए।

(८६)

बालक का मस्तिष्क एक ऐसा कोरा कागज है, जिस पर जो भी सही या गलत प्रारम्भ में लिख दिया जाता है, वह अपनी ऐसी अमित छाप छोड़ता है कि फिर उसे न तो आसानी से मिटाया जा सकता है, न बदला जा सकता है। बालक को जो सिखा दिया जाता है, उसका सरल हृदय उसे ही सच मान लेता है। अतः प्रारंभ में ही सत्य का ज्ञान कराना आवश्यक है।

निश्चय से तो मैं जीवतत्त्व हूँ और शुद्धात्म मेरा नाम है तथा मैं अपने स्वरूप चतुष्टय में रहता हूँ और मात्र जानना मेरा काम है। परन्तु वर्तमान में लोक व्यवहार में केवल शुद्धात्मा नाम से काम नहीं चलता, यहाँ पर्याय में तो क्षण-क्षण में और कदम-कदम पर नाम, काम, धाम और व्यक्तित्व बदलते रहते हैं।

(८७)

हम मात्र वर्तमान मानव जीवन के सत्तर-पिचत्तर वर्ष सुखपूर्वक जीने के लिए जीवन का एक तिहाई भाग प्रारंभ के पच्चीस वर्ष की किशोर

अवस्था अर्थकरी लौकिक शिक्षा के अर्जन में ही बिता देते हैं, सम्पूर्ण यौवन धनोपार्जन और कुटुम्ब-परिवार के भरण-पोषण में बिता देते हैं, जो केवल भाग्याधीन है। साठ वर्ष के बाद बुढ़ापे का जीवन भी कोई जीवन है। उसे तो ज्ञानियों ने पहले ही अधमरा घोषित कर दिया है।

ऐसी स्थिति में विचारणीय बात यह है कि जब अपने और अपने कुटुम्ब परिवार के लौकिक जीवन को सुखी-दुःखी बनाना हमारे हाथ में है ही नहीं तो उसके लिए इतना श्रम, शक्ति व समय का अपव्यय क्यों करे।

(८८)

वैराग्यमय वातावरण बनाने के लिए शान्तरस से भरपूर संगीतमय आध्यात्मिक भजन, वैराग्य भावना, समाधिमरण, शुद्धात्मशतक, छहढाला आदि सुनाने की व्यवस्था करें, ताकि मरणासन्न व्यक्ति के परिणाम निर्मल हों, दुर्व्यसनों के कारण उत्पन्न हुई आत्मग्लानि दूर हो और आत्मानुशासन प्राप्त करने का सुअवसर मिल सके।

(८९)

साधर्मी वात्सल्य कहते ही उसे हैं, जिसमें निःस्वार्थ भाव से अपने साधर्मी भाइयों को और कुटुम्ब-परिवार को सन्मार्ग में लगाने के लिए अपना सम्पूर्ण समर्पण कर दे। इससे बढ़कर अन्य कोई पुण्य का कार्य नहीं हो सकता।

(९०)

किसी भी शुभकाम को कल पर मत टालो! क्या भरोसा इस जीवन का? इस जीवन में कल आयेगा या नहीं, यह कोई नहीं जानता। अतः शुभ काम और आत्माराम की आराधना तो जितने जल्दी बने, उतने ही जल्दी कर लेना चाहिए। कहा भी है -

“क्षण भंगुर जीवन की कलियाँ, कल प्रातःकाल खिलीं न खिलीं;
यमराज कुठार लिए फिरता, तन पर वह चोट झिली न झिली।
क्यों करता है तू कल-कल, कल यह श्वांस मिली न मिली,
भज ले प्रभु नाम अरी रसना! फिर अन्त समय में हिली न हिली।।”

विदाई की बेला से ~

(१)

भला जिनके पैर कब्र में लटके हों, जिनको यमराज का बुलावा आ गया हो, जिनके सिर के सफेद बाल मृत्यु का संदेश लेकर आ धमके हों, जिनके अंग-अंग ने जवाब दे दिया हो, जो केवल कुछ ही दिनों के मेहमान रह गये हों, परिजन-पुरजन भी जिनकी चिरविदाई की मानसिकता बना चुके हों, अपनी अन्तिम विदाई के इन महत्वपूर्ण क्षणों में भी क्या उन्हें अपने परलोक के विषय में विचार करने के बजाय इन राजनैतिक हार-जीत आदि व्यर्थ की बातों के लिए, इन राग-द्वेषवर्द्धक विकथायें करने का समय है?

वैसे भी सभी का यह कर्तव्य है कि वे मात्र दुनियादारी के ज्ञाता-दृष्टा रहें; क्योंकि सभी को शांत व सुखी होना है, आनंद से रहना है; पर वृद्धजनों का तो अब एकमात्र यही मुख्य कर्तव्य रह गया है कि जो भी हो रहा है, वे उसके केवल ज्ञाता-दृष्टा रहें; उसमें रुचि न लें, उनसे राग-द्वेष न करें।

(२)

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि 'अधिकांश व्यक्ति दूसरों की घटनायें सुनते-सुनते स्वयं अपने जीवन की घटनायें सुनाने को उत्सुक ही नहीं, अपितु आतुर तक हो उठते हैं और कभी-कभी तो भावुकतावश न कहने योग्य ऐसी बातें भी कह जाते हैं' जिनसे कलह, विसंवाद एवं वाद-विवाद बढ़ने की संभावना होती है।

(३)

भूल की पुनरावृत्ति न होने देना ही भूल का सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। अतः भूत की भूलों को भूल जाओ, तत्त्वज्ञान के बल से वर्तमान में हो रहे भावों को संभालो, भविष्य स्वयं संभल जायेगा।''

(४)

यह तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि - सामाजिक और पारिवारिक प्राणियों को अकेलापन काटने को दौड़ता है; परन्तु आत्मध्यान और तत्त्वों के चिन्तन हेतु तथा विकथाओं से बचने के लिए अब वृद्धावस्था में तो एकान्त में रहने का अभ्यास करना आवश्यक है अन्यथा धर्मध्यान नहीं हो सकेगा।

(५)

मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल व जिनवाणी का श्रवण उत्तरोत्तर दुर्लभ है। अनन्तानन्त जीव अनादि से निगोद में हैं, उनमें से कुछ भली होनहार वाले विरले जीव भाड़ में से उचटे चनों की भाँति निगोद से एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में आते हैं। वहाँ भी वे लम्बे काल तक पृथ्वी जल-अग्नि-वायु एवं वनस्पतिकायों में जन्म-मरण करते रहते हैं। उनमें से भी कुछ बिरले जीव ही बड़ी दुर्लभता से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय पर्यायों में आते हैं। यहाँ तक तो ठीक, पर इसके बाद मनुष्यपर्याय, उत्तमदेश, सुसंगति श्रावककुल, सम्यग्दर्शन, संयम, रत्नत्रय की आराधना आदि तो उत्तरोत्तर और भी महादुर्लभ हैं। यदि यह अवसर चूक गये तो.....''

(६)

वर्तमान मानसिक और दैहिक दुःखों से घबड़ाकर बे-मौत मरने की, आत्मघात करने की भूल कभी नहीं करना चाहिए। अन्यथा अपघात करने का फल जो पुनः नरक-निगोद में जाना है, उससे कोई नहीं बचा पायेगा।

(७)

वस्तुतः हर किसी के सामने अपने दिल का दर्द या मन की व्यथा कहने से कोई लाभ नहीं है। इस मशीनी युग में किसी को न तो किसी के कष्ट सुनने की फुरसत है और न उन्हें सहयोग करने व सहानुभूति प्रदर्शित करने को ही समय है। अतः किसी से कुछ कहना, भैंस के आगे बीन बजाना है।

(८)

यदि इस संसार में पुण्यात्मा से पुण्यात्मा का जीवन भी कुशल-मंगल होता, पूर्ण सुखी होता तो यहीं मोक्ष होता, फिर मोक्ष के लिए कोई प्रयत्न ही क्यों करता? कहा भी है -

जो संसार विसैं सुख होता तीर्थकर क्यों त्यागें ।

काहे को शिव साधन करते संयम सों अनुरागे ॥

(९)

यद्यपि स्थिर जीविका के बिना जीवोद्धार की बात संभव नहीं है, आजीविका की भी मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कम से कम रोटी, कपड़ा और मकान की प्राथमिक आवश्यकताओं की समस्याओं का समाधान तो होना ही चाहिए। पर, वह हमारे हाथ में है कहाँ? वह तो अपने-अपने प्रारब्ध के अनुसार ही मिलती है। चींटी को कण और हाथी को मण सुबह से शाम तक अपने-अपने भाग्यानुसार मिलता ही है। इसमें आदमी की बुद्धि अधिक काम नहीं आती। अतः इस विकल्प से भी विराम ले लो।

(१०)

यद्यपि उद्योग में उद्यम की प्रमुखता है; पर उद्यम भी तो होनहार का ही अनुसरण करता है, अन्यथा आज सभी उद्यम करने वाले करोड़पति से कम नहीं होते। आज ऐसा कौन है जो बड़ा आदमी बनने का, करोड़पति बनने का उद्यम नहीं कर रहा? पर उनमें कितने करोड़पति हो गये? जब भाग्य साथ नहीं देता तो अच्छे-अच्छे बुद्धिमानों की बुद्धि भी कुछ काम नहीं करती।

(११)

‘दाने-दाने पर लिखा है खाने वाले का नाम’ उक्ति के अनुसार सबकी आजीविका तो भाग्यानुसार पहले से ही निश्चित है। यह न केवल लोकोक्ति है, गोम्मटसार व समयसार जैसे आगम व अध्यात्म ग्रंथ भी इसका समर्थन करते हैं। अतः जीविका में ही सारी शक्ति लगा देना और जीवोद्धार को

कुछ भी समय नहीं निकालना अच्छी बात नहीं है। एतदर्थ यह विचार करें कि जैसी होनहार होती है, वैसी ही बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, उद्यम भी उसी दिशा की ओर होने लगता है, सहायक भी वैसे ही मिल जाते हैं। अतः आजीविका के साथ आत्मोद्धार का उपाय भी करें।

(१२)

संयोगों में न तो सुख है और न दुःख ही है। सांसारिक सुख-दुःख तो संयोगी भावों से होता है, संयोगों में इष्ट-अनिष्ट कल्पनाएँ करने से होता है। संयोगों में वस्तुतः सुख है ही कहाँ, वह तो सुखाभास है, दुःख का ही बदला हुआ रूप है। वास्तविक सुख का सागर तो अपना आत्मा ही है।

(१३)

बुढ़ापा स्वयं भी तो अपने आप में एक बीमारी है, जिससे कोई नहीं बच सकता। जन्म-जरा (बुढ़ापा) एवं मृत्यु - ये तीन ऐसे ध्रुव सत्य हैं कि जिनसे कोई इंकार नहीं कर सकता। इनका सामना तो समय-समय पर सबको करना ही पड़ता है।

(१४)

जिस तरह जब सरोवर सूखता है तो सब ओर से ही सूखता है, उसी तरह जब पुण्य क्षीण होता है तो सब ओर से ही क्षीण होता है।

(१५)

जिससे भी हम अपने दिल का दुःख-दर्द कहेंगे, वह या तो राग-द्वेष व अज्ञानतावश हमारा ही दोष बताकर हमें और अधिक दुःखी कर देगा या फिर हमें दीन-हीन, दुःखी, मुसीबत का मारा मानकर दयादृष्टि से देखेगा। हमारी और हमारे परिवार की कमजोरियों को यहाँ-वहाँ कहकर बदनामी भी कर सकता है और हमारी कमजोरियों का गलत फायदा भी उठा सकता है।

रहिमन कवि ने ठीक ही कहा है -

“रहिमन निजमन की व्यथा मनहरी राखो गोय ।

सुनिइढले हें लोग सब, बांट न लेहे कोय ॥”

(११)

(१६)

व्यक्ति विद्वान न हो तो भी बुद्धिमान हो सकता है; क्योंकि विद्या अर्जित ज्ञान को कहते हैं और बुद्धि जन्मजात प्रतिभा को। बिना पढ़ा लिखा व्यक्ति भी बुद्धिमान हो सकता है और दुनियाँ में पढ़े-लिखे मूर्खों की कमी नहीं है। अतः किसी के पुस्तकीय ज्ञान से प्रभावित न हों।

(१७)

विपरीत परिस्थितियों में भी लोग सभ्य भाषा में ऐसा ही बोलते हैं। न केवल बोलते हैं, कभी-कभी उन्हें स्वयं को ऐसा लगने भी लगता है कि वे विरागी हो रहे हैं; जबकि उन्हें वैराग्य नहीं, वस्तुतः द्वेष होता है। केवल राग अपना रूप बदल लेता है, वह राग ही द्वेष में परिणित हो जाता है, जिसे वे वैराग्य या संन्यास समझ लेते हैं।

(१८)

सारा जगत स्वार्थी है, कोई किसी का नहीं है। चाहे वह जीवनभर साथ निभाने की कसमें खाने वाली पत्नी हो या भाई-भतीजे हों। क्या पत्नी और क्या पुत्र-पौत्र सभी अपने-अपने सुख के संगती हैं, स्वार्थ के साथी हैं।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है -

कमला चलत न पैँड, जाय मरघट तक परिवारा ।

अपने-अपने सुख को रोवें, पिता-पुत्र-दारा ॥

प्राणांत होने के बाद कमला (धन-दौलत) जीव के साथ एक कदम भी तो नहीं जाती। जहाँ की तहाँ पड़ी रहती है। परिजन-पुरजन भी केवल मरघट तक जाकर लौट आते हैं। पुत्र-पौत्रादि-कुटुम्बीजन तीन दिन बाद अपने-अपने धंधे में लग जाते हैं और तेरह दिन बाद तो मानो उन सबके फिर सुनहरे दिन लौट आते हैं और सब अपने-अपने राग-रंग में मस्त हो जाते हैं। फिर कौन किसको याद करता है?

उपर्युक्त कथन में जो संसार की वस्तुस्थिति का चित्रण किया है वह किसी से द्वेष करने के लिए नहीं, बल्कि वैराग्य बढ़ाने के लिए कहा गया है।

(२२)

(१९)

संसार का स्वरूप हमें पलायन करना नहीं सिखाता, बल्कि वह पर्याय का सत्य समझाकर उसके साथ समतापूर्वक समायोजन करना, समझौता करना सिखाता है।

(२०)

संसारी जीवन तो संघर्षों का ही दूसरा नाम है। और संघर्षों का जन्म बाहर में नहीं, अन्तर में होता है। तत्त्वज्ञान के अभ्यास में जैसे-जैसे कषायें कम होंगी, इष्टानिष्ट कल्पनाएँ भी सीमित होंगी, संघर्ष भी सीमित हो जायेंगे तथा कषायों का शमन जीवन से पलायन करने से नहीं, पर्याय के सत्य को समझने और उसे स्वीकार करने से होता है। अतः सर्वप्रथम पूरी शक्ति से वर्तमान पर्याय के सत्य को भी समझना होगा।

(२१)

जो घर में रहकर कषायों के कारण उत्पन्न हुई पारिवारिक जीवन की छोटी-छोटी प्रतिकूलताओं का धीरज के साथ सामना नहीं कर सकता, वह वनवासी मुनि जीवन की कठोर साधना कैसे करेगा? तथा प्राकृतिक परीषणों और परकृत उपसर्गों को कैसे सहेगा?

(२२)

सबसे पहले शास्त्राभ्यास द्वारा हमें तत्त्व निर्णय करना होगा, ज्ञान स्वभावी आत्मा का निश्चय करना होगा, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के यथार्थ स्वरूप को समझना होगा, फिर जो पर की प्रसिद्धि में ही मात्र निमित्त हैं। ऐसी पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों पर से अपनी रुचि को हटाकर आत्म सन्मुख करना होगा। तभी संन्यास एवं समाधि की पात्रता प्राप्त होगी। यहीं से होता है संन्यास एवं समाधि का शुभारंभ।

(२३)

वस्तुतः समाधि मृत्यु महोत्सव नहीं, जीवन जीने की कला है। इसे इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। पर ऐसा नहीं हो पा रहा है।

समाधिपाठ को मात्र मृत्यु के अवसर पर पढ़ने की वस्तु नहीं मानना चाहिए और न उसे मृत्यु से ही जोड़ना चाहिए। यह जीवनभर चिंतवन करने का विषय है, ताकि साधक का मृत्यु के समय भी ज्ञान-वैराग्य जागृत रहे और उसे मोह की मार मूर्च्छित न कर सके।

(२४)

कौन जाने किस जीव की कब काललब्धि आ जावे, किसकी परिणति में कब/क्या परिवर्तन आ जावे? किसका कब/कैसा भाग्योदय हो जावे? यही बात मौत के संबंध में भी लागू पड़ती है। अतः सदैव जागृत रहने की जरूरत है।

(२५)

भाग्योदय से ज्ञानियों के जीवन में यदि अनुकूल संयोगों का बनाव बन भी जावे तो वे तो इस ठाठ-बाट की क्षण-भंगुरता को भली-भाँति जानते हैं, अतः वे इस ठाठ-बाट में तन्मय नहीं होते, इनसे प्रभावित भी नहीं होते। यदि यही सब अनुकूल संयोग अज्ञानियों को मिल जायें तो उन्हें अपच हुए बिना नहीं रहता, अभिमान हुए बिना नहीं रहता।

(२६)

तुम जिन स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-परिवार के मोह-जाल में उलझकर अपना अमूल्य मानव जीवन बर्बाद कर रहे हो, अपने हिताहित को बिल्कुल भूल बैठे हो, अपने भविष्य को अंधकारमय बना रहे हो, वे कुटुम्बीजन कोई भी तुम्हें दुःख के दिनों में काम नहीं आयेंगे। यह जगत बड़ा स्वार्थी है। जिन्हें तुम अपना कहते हो, ये सब स्वार्थ के ही सगे हैं। अतः तुम कुटुम्ब-परिवार के मोह में पड़कर अब अधिक पाप में न पड़ो। पाप से अर्जित धन-वैभव का उपभोग ये करेंगे और पाप का फल तुम्हें अकेले ही भोगना पड़ेगा।

कोई किसी को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता, जीवन-मरण नहीं दे सकता; क्योंकि कोई किसी को अपने पुण्य-पाप आयु नहीं दे सकता।”

(२३)

(२७)

संसार, शरीर व भोगों को असार, क्षणिक एवं नाशवान तथा दुःखस्वरूप व दुःख का कारण मानकर उनसे विरक्त होना ही सन्यास है। तथा समताभाव को समाधि कहते हैं। शास्त्रीय शब्दों में कहें तो, कषाय रहित शांत परिणामों का नाम ही समाधि है।

तत्त्वों का मनन, मिथ्यात्व का वमन, कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, आत्मा में रमण - यही सब तो समाधि है।

समाधि के लिए सर्वप्रथम स्वरूप की समझ अत्यावश्यक है तथा यह स्वरूप की समझ पंचपरमेष्ठी की पहचानपूर्वक होती है, सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा उसमें निमित्त होती है। एतदर्थ सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु की शरण में आना होगा, पंचपरमेष्ठी का स्वरूप समझना होगा।

(२८)

पुरुषों की बहुत सी कलाओं में दो कलायें ही प्रमुख हैं - एक जीविका दूसरी जीवोद्धार। पुण्योदय से पहली कला में तो तुम सफल रहे ही हो। अब तत्त्वज्ञान का अभ्यास करके दूसरी कला को भी तुम हासिल करो। संन्यासपूर्वक समाधि की साधना करके अपने शेष जीवन को भी सार्थक कर लो।

(२९)

अधिकांश व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों से घबड़ाकर, जीवन से निराश होकर जल्दी ही मर जाना चाहते हैं, दुःखद वातावरण से छुटकारा पाने के लिए समय से पहले ही दिवंगत हो जाना चाहते हैं, पर ऐसे भावों से सद्गति नहीं होती।

सौभाग्य से यदि अनुकूलतायें मिल गईं तो आयु से भी अधिक जीने की निष्फल कामना करते-करते अति संक्लेश भाव से मरकर कुगति के ही पात्र बनते हैं।

ऐसे लोग दोनों ही परिस्थितियों में जीवन भर जगत के जीवों के साथ और अपने-आपके साथ संघर्ष करते-करते ही मर जाते हैं। वे राग-द्वेष से ऊपर नहीं उठ पाते, कषाय-चक्र से बाहर नहीं निकल पाते।

(३०)

जो पत्नियाँ केवल विषय-कषाय एवं राग-रंग में ही सहभागी बनती हैं, धर्म साधन में साथ नहीं रहती, उन्हें तो धर्मपत्नी कहलाने का अधिकार ही नहीं है। अतः धर्मपत्नियों को अपना धर्म निभाकर अपना नाम सार्थक करना चाहिए।

(३१)

लोक के सभी द्रव्यों को, पदार्थों को वस्तुत्व गुण के कारण वस्तु भी कहते हैं। इन सभी वस्तुओं का स्वरूप पूर्ण स्वतंत्र व स्वाधीन है। आत्मा भी एक अखण्ड, अविनाशी, अनादि-अनंत, ज्ञानानंद स्वभावी, पूर्ण स्वतंत्र वस्तु है। ज्ञाता-दृष्टा रहना उसका स्वभाव है। क्रोधादि करना आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। स्वभाव से विपरीत भाव को विभाव कहते हैं। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि के भाव आत्मा के विपरीत भाव हैं। अतः ये सब विभाव हैं।

जब तक यह जीव वस्तुस्वातंत्र्य के इस सिद्धान्त को नहीं समझेगा और क्रोधादि विभाव भावों को ही स्वभाव मानता रहेगा, अपने को पर का कर्ता-धर्ता मानता रहेगा, तब तक समता एवं समाधि का प्राप्त होना संभव नहीं है।

तत्त्वों के सच्चे श्रद्धान-ज्ञान व आचरण से ही आत्मा निष्कषाय होकर समाधिमय जीवन जी सकता है।

मरते समय तो समाधिरूप वृक्ष के फल खाए जाते हैं; बीज तो अभी ही बोना होगा; तभी तो उस समय फल मिलेगा। कहा भी है -

**दर्शन ज्ञान-चारित्र को, प्रीति सहित अपनाय।
च्युत न होय स्वभाव से, वह समाधि को पाय ॥**

(३२)

सम शब्द का अर्थ है एक रूप करना, मन को एकाग्र करना। आत्मा में मन को एकाग्र करना समाधि शब्द का अर्थ है।

वचनोच्चारण की क्रिया का परित्याग कर वीतरागभाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे समाधि कहते हैं।

समस्त विकल्पों के नाश होने को परमसमाधि कहते हैं।

जहाँ भी आगम में समाधि के स्वरूप की चर्चा आई है, उसे जीवन की साधना, आत्मा की आराधना और ध्यान आदि निर्विकल्प भावों से ही जोड़ा है, न कि मरण से। अतः समाधि प्राप्त करने के लिए मरण की प्रतीक्षा करने के बजाय जीने की कला सीखना जरूरी है, जो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा की यथार्थ समझ से ही संभव है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल से जिनके जीवन में ऐसी समाधि होगी, उनका मरण भी नियम से समाधिपूर्वक ही होगा।

जिन्होंने अपना जीवन समाधिपूर्वक जिया हो, मरण भी उन्हीं जीवों का समाधिपूर्वक होता है। वस्तुतः आधि-व्याधि व उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम ही तो समाधि है।

बात कितनी भी बढ़िया क्यों न हो, पर एक सीमा तक ही उसका लाभ मिलता है। सीमा का उल्लंघन होते ही अमृत तुल्य षट्‌रस व्यंजन भी विषरूप परिणत होने लगते हैं।

(३३)

जिनका मरण सुधर जाता है, वे ही परभव में अगले जन्म में सुखद संयोगों में पहुँचते हैं, उनको ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। और जिनका मरण बिगड़ जाता है, वे नरक-निगोद आदि गतियों में जाकर अनंतकाल तक असीम दुःख भोगते हैं।

जिसने अपना जीवन रो-रोकर जिया हो, जिनको जीवन भर संक्लेश ही संक्लेश और अशान्ति रही हो, जिनका जीवन केवल आकुलता में ही बीता हो, जिसने जीवन में सुख-शान्ति कभी देखी ही न हो, निराकुलता का अनुभव किया ही न हो; इसकारण जिनके जीवन भर संक्लेश परिणाम रहे हों, आर्तध्यान ही हुआ हो; उनका 'मरण' कभी नहीं सुधर सकता; क्योंकि **जैसी मति वैसी गति।**

आगम के अनुसार जिसका आयुबंध जिसप्रकार के संक्लेश या विशुद्ध परिणामों में हो जाता है, उसका मरण भी उसी प्रकार के संक्लेश या विशुद्ध परिणामों में होता है। अतः यहाँ यह कहा जायेगा कि **जैसी गति वैसी मति**।

जब तक आयुबंध नहीं हुआ तब तक मति अनुसार गति बंधती है, आयु बंध होने पर संगति के अनुसार मति होती है। अतः यदि कुगति में जाना पसंद न हो तो मति को व्यवस्थित कहना आवश्यक है।

जिसको अशुभ आयु और खोटी गति का बन्ध हो जाता है, उसकी मति (बुद्धि) भी गति के अनुसार कुमति ही होती है।

बुद्धि व्यवसाय और सहायक आदि सभी कारण-कलाप एक होनहार का ही अनुसरण करते हैं। अर्थात् जैसी होनहार होती है, तदनुसार ही बुद्धि-विचार उत्पन्न होते हैं, व्यवसाय-उद्यम भी उसी प्रकार होने लगता है सहायक निमित्त कारण भी सहज रूप से वैसे ही मिल जाते हैं।

(३४)

जिसने प्रीति चित्त से भगवान आत्मा की बात भी सुनी है, वह निश्चित ही भव्य है और निकट भविष्य में ही वह मोक्ष प्राप्त करेगा।

अपने उपयोग का लौकिक कार्यों के विकल्पों में और विकथाओं में दुरुपयोग न करें। अपने अमूल्य समय का एक क्षण भी विषय-कषाय में बर्बाद न करके आत्मचिन्तन और परमात्मा के गुणगान में लगायें।

(३५)

आगामी (वध्यमान) आयुर्कर्म का बंध, जो वर्तमान (भुज्यमान) आयु के त्रिभाग में होता है, उस त्रिभाग का समय जीवन में अधिकतम आठ बार आता है। फिर भी यदि आयुर्कर्म का बंध न हो तो जीवन के अन्त समय में अर्थात् मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले तक भी होता है।

मान लो आपकी वर्तमान (भुज्यमान) आयु इक्यासी वर्ष है तो इक्यासी में तीन का भाग देकर उसमें से एक (तीसरा) भाग घटाने पर अर्थात् दो-तिहाई उम्र बीतने पर **इक्यासी वर्ष** का प्रथम त्रिभाग **चौवन (५४) वर्ष**

की उम्र में आयेगा, तब आगामी जन्म की (वध्यमान) आयु का बंध होगा। यदि उसमें आगामी जन्म (वध्यमान) आयु का बंध नहीं हुआ तो शेष बचे वर्तमान आयु के **सत्ताईस वर्षों** का दूसरा त्रिभाग **बहत्तर (७२) वर्ष** की उम्र में आयेगा, उसमें आगामी आयु कर्म का बंध होगा। तब भी न हुआ तो वर्तमान आयु के **नौ वर्षों** का तीसरा त्रिभाग **अठहत्तर (७८) वर्ष** की उम्र में आयेगा, जिसमें आगामी आयुर्कर्म का बंध होगा।

इसके बाद **चौथा** त्रिभाग **अस्सी (८०) वर्ष** में, **पाँचवाँ** त्रिभाग **अस्सी वर्ष आठ माह** में, **छठवाँ** त्रिभाग अस्सी वर्ष दस माह बीस दिन में, **सातवाँ** त्रिभाग अस्सी वर्ष ग्यारह माह सोलह दिन व सोलह घंटे में और **आठवाँ** त्रिभाग अस्सी वर्ष ग्यारह माह पच्चीस दिन बारह घंटे व चालीस मिनट में आयेगा, जिसमें आगामी जन्म की आयु का बंध होगा।

इसप्रकार आगामी जन्म की (वध्यमान) आयुबंध के आठ अवसर आते हैं। यदि इन आठों बार भी आगामी आयुर्कर्म का बंध नहीं हुआ तो आवली का असंख्यातवाँ भाग भुज्यमान आयु का शेष रहने पर तो आगामी आयु का बंध अवश्य होता ही है।

कदाचित् किसी का आयु बंध हो भी गया हो तो भी निराश होकर बैठने के बजाय यदि तत्त्वाभ्यास द्वारा परिणाम विशुद्ध रखा जाय तो आयु कर्म की स्थिति में घटना-बढ़ना अर्थात् उत्कर्षण-अपकर्षण तो हो ही सकता है, तत्त्वाभ्यास निरर्थक नहीं जाता।

(३६)

जिनके जीवन में मानसिक शान्ति रहेगी, जिनका जीवन विषय-कषायों से संक्लेशित नहीं होगा, जिनके जीवन में विशुद्ध परिणाम रहेंगे, उन्हें अशुभगतियों में जाने की कारणभूत नरक-तिर्यच आयु का बंध ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में उनका कु-मरण कैसे हो सकता है? वे तो जब भी देह छोड़ेंगे समता और समाधिपूर्वक ही छोड़ेंगे।

पर ध्यान रहे, जिनका जीवन सुख-शान्ति एवं निराकुलता में बीतता

है, उन्हीं का मरण समाधिपूर्वक होता है। अतः हमें मरण सुधारने के बजाय जीवन को सुधारने का ही प्रयत्न करना होगा।

(३७)

जब तक हमारे मनोविकारों को जन्म देने वाली सांसारिक समस्याओं का समुचित समाधान नहीं होता, तबतक इन क्रोधादि मनोविकारों का अभाव कैसे हो सकता है?

(३८)

तीन लोक में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने स्वभाव से स्वतंत्र रूप से मिलते-बिछुड़ते हैं, स्वयं ही आते जाते हैं। उनमें परस्पर कर्ता-कर्म संबंध नहीं है। मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

(३९)

जब संयोग के मिलाने में या अलग करने में, किसी का भला-बुरा होने में, सुख-दुःख पाने में किसी अन्य का कुछ हस्तक्षेप ही नहीं है तो कोई किसी पर बिना कारण क्रोधादि क्यों करें? खेद-खिन्न क्यों हो? हर्ष-विषाद क्यों करे? संक्लेशित भी क्यों हो?

वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त की श्रद्धावाले व्यक्ति तो केवल ज्ञाता-दृष्टा रहकर सब परिस्थितियों में साम्यभाव ही धारण करते हैं, उन्हें संयोगों में सुख बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि वे जानते हैं कि संयोगों में सुख है ही नहीं।

(४०)

पुण्य-पाप के सिद्धान्तानुसार भी कोई किसी को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता। अतः पुण्य-पाप का यथार्थ श्रद्धान होने से भी पर के प्रति राग-द्वेष की परिणति कम हो जाती है। सामायिक पाठ में कहा है -

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते।।
अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज, थिर हो छोड़ प्रमाद बुद्धि।।

(२६)

(४१)

सूर्योदय के पूर्व ब्रह्म मुहूर्त में उठकर सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का स्मरण करना चाहिए। तत्पश्चात् “मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? मेरे लिए क्या हेय है और क्या उपादेय?” इसका विचार करना चाहिए। कहा भी है -

“मैं कौन हूँ, आया कहाँ से, और मेरा रूप क्या?
संबंध सुखमय कौन है, स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिए।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान अरु सिद्धान्त का रस पीजिए।।”

(४२)

अनादिकाल से अज्ञानी जीव की देह में व रागादि भावों में ही एकत्वबुद्धि है, वह आत्मा के शुद्धस्वरूप को नहीं जान पाया। इस कारण उसे आत्मानुभूति नहीं हुई, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई।

(४३)

अज्ञानी देह की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति मानता है, देह के विनाश में अपना विनाश मानता है। इसीप्रकार देह यदि गोरी-काली, रोगी-निरोगी, मोटी-दुबली हो तो स्वयं को वैसा ही मान लेता है। यही मान्यता दुःख का कारण है।

(४४)

“मैं तो ज्ञानानन्द स्वभावी अपने आप में स्वयं परिपूर्ण वस्तु हूँ। मुझे पूर्णता प्राप्त करने के लिए एवं सुखी होने के लिए किसी भी पर वस्तु के सहयोग की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है।” यह मान्यता सही है।

काला-गोरा आदि तो पुद्गल के परिणाम हैं। जब जीव में जड़-पुद्गल के गुण हैं ही नहीं; तो काले-गोरे होने की बात ही कहाँ से आई?

“मैं तो अरस, अरूप, अगंध एवं अस्पर्श स्वरूपी चैतन्य तत्त्व हूँ। मेरा पर पदार्थों से कुछ भी संबंध नहीं है। मैं तो शुद्ध-बुद्ध निरंजन-निराकार एक परम पदार्थ हूँ तथा पर की परिणति से सदा अप्रभावी हूँ।”

“मैं ज्ञान का घनपिण्ड, आनन्द का रसकंद, चैतन्य सूर्य हूँ। मैं स्वयं ही ध्येय हूँ, श्रद्धेय हूँ, ज्ञान हूँ एवं ज्ञायकस्वभावी भगवान हूँ।”

सर्वप्रथम विचार करो कि - “मैं कौन हूँ। मेरा क्या स्वरूप है? यह चरित्र कैसे बन रहा है? ये मेरे भाव होते हैं, इनका क्या फल लगेगा। जीव दुःखी हो रहा है, सो दुख दूर होने का क्या उपाय है?

हे प्रभो। मुझमें और आप में कोई अन्तर नहीं है, जैसे अनन्त-ज्ञान-दर्शन के घनपिण्ड आप हैं, वैसा ही मैं हूँ, स्वभाव से जैसा मैं हूँ, वैसे ही आप हैं। एक समय की पर्याय में आप में और मुझमें मात्र इतना अन्तर है कि आप वीतरागी हो गये हैं और मैं अभी रागी-द्वेषी हूँ।” इस अन्तर को अपने सम्यक् पुरुषार्थ से ही बदला जाता है। अन्य साधनों से नहीं।

भेद ज्ञान द्वारा ऐसा विचार करो कि - “मैं राग से, देह से, गुणभेद से व निर्मल पर्यायों से भी सर्वथा भिन्न हूँ। मैं अनुज-अग्रज, पुत्र-पुत्री, मित्रजन से तो भिन्न हूँ ही, शुभ-अशुभ रूप चैतन्य की वृत्तियों से भी अन्य हूँ।”

(४५)

संसार, शरीर व भोगों से विरक्ति के लिए बारह भावनाओं के माध्यम से इनकी क्षणभंगुरता एवं असारता का भी विचार करना। जैसा कि यत्र-तत्र कहा गया है। वस्तु स्वरूप की यथार्थ समझ के लिए आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करना भी आवश्यक है। तभी विशुद्ध परिणाम होंगे और राग-द्वेष कम होंगे, कषायें कृश होंगी और समता व समाधि की प्राप्ति होगी।

(४६)

जो जीवन भर मृत्यु के भय से भयभीत रहे हों, जिन्हें प्रतिपल मौत का आतंक आतंकित किए रहता हो, मरण की कल्पना मात्र से जिनका दिल दहल जाता हो, हृदय काँप उठता हो, वे मृत्यु जैसी दुःखद दुर्घटना को महोत्सव के रूप में कैसे मना सकते हैं? उनके लिए वह मनहूस घड़ी

महोत्सव जैसी सुखद कैसे हो सकती है?

(४७)

चिर विदाई (मृत्यु) भी दो तरह की होती है - सुखदायी, दुःखदायी। यदि व्यक्ति ने जीवन भर सत्कर्म किए हैं, पुण्यार्जन किया है, सदाचारी जीवन जिया है, अपने आत्मा व परमात्मा की पहचान करके उनका आश्रय व आलम्बन लिया है, परमात्मा के बताये पथ पर चलने का पुरुषार्थ किया है तो निश्चित ही उसकी वह चिर विदाई की बेला सुखदायी होगी; क्योंकि उसके सत्कर्मों के फलस्वरूप वर्तमान वृद्ध, रोगी एवं जीर्ण-शीर्ण शरीर के बदले में सुन्दर शरीर, सुगति व नाना प्रकार के सुखद संयोग मिलने वाले हैं।

जिसतरह किसी को पहनने के लिए नया सुन्दर वस्त्र तैयार हो तो पुराना, जीर्ण-शीर्ण, मैला-कुचैला वस्त्र उतार कर फेंकने में उसको कष्ट नहीं होता; उसीतरह जिसने नई पुण्य की कमाई की हो, सत्कर्म किए हों, उसे तो नवीन दिव्य देह ही मिलने वाली है, उसे पुराना शरीर छोड़ने में कैसा कष्ट? ऐसी मृत्यु को ही मृत्यु महोत्सव या सुखदायी विदाई कहते हैं।

ऐसी चिर विदाई (मृत्यु) के समय सगे-संबंधी रागवश बाहर से रोते दिखाई देते हैं, पर अन्दर से उन्हें इस बात का संतोष व हर्ष होता है कि दिवंगत आत्मा की सद्गति हुई है।

इसके विपरीत जिसने जीवन भर दुष्कर्म किए हों, पापाचरण किया हो, दुर्व्यसनों का सेवन किया हो, दूसरों पर राग-द्वेष करके संक्लेश भाव किए हों, जो दिन-रात खाने-कमाने में ही अटका रहा हो, विषय-कषायों के कुचक्र में फँसा रहा हो, उसे तो इन कु-कर्मों के फल में कुगति ही मिलनी है, दुःखदायी संयोगों में ही जाना है। उसकी इस मौत को, चिर विदाई की बेला को दुःखदाई कहते हैं। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु कभी महोत्सव नहीं बन सकती।

(४८)

(२७)

मृत्यु के समय मरणासन्न व्यक्ति की मनःस्थिति को मोह-राग-द्वेष

आदि मनोविकारों से बचाने, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से तथा परद्रव्य पर अटकने-भटकने से भी बचाने तथा आत्मसम्मुख करने के लिए संसार, शरीर भोगों की असारता को बताने वाला वैराग्यवर्द्धक तथा संयोगों की क्षण भंगुरता दर्शानेवाला और आत्मा के अजर-अमर व अविनाशी स्वरूप का ज्ञान कराने वाला आध्यात्मिक वातावरण बनाना जरूरी है। इसके बिना मृत्यु महोत्सव नहीं बन सकती।

(४९)

समतापूर्वक शांत भावों से देह त्यागने में हमें समाधिस्थ जीव का सहयोग करना चाहिए, तभी उसकी मृत्यु महोत्सव बन पाती है। देह छूटते समय प्राणी को शारीरिक पीड़ा तो होती है, ध्यान उस पीड़ा पर न जाय, एतदर्थ भी हमें वैराग्यमय वातावरण बनाना चाहिए।

जिसतरह युद्ध के मैदान में सफलता प्राप्त करने के लिए जीवनभर अस्त्र-शस्त्र कला का अभ्यास जरूरी है; उसीतरह मृत्यु को महोत्सव बनाने के लिए जीवन भर तत्त्वाभ्यास जरूरी है।

(५०)

यद्यपि लोक दृष्टि में लोक विरुद्ध होने से अन्य उत्सवों की भाँति मृत्यु का महोत्सव खुशियों के रूप में तो नहीं मनाया जा सकता, पर तत्त्वज्ञानियों द्वारा मृत्यु को महोत्सव जैसा महसूस तो कराया ही जा सकता है।

ज्ञानी तत्त्वाभ्यास से ऐसा अनुभव करने लगता है कि - मैं तो इस नाशवान शरीर से भिन्न अजर-अमर अविनाशी हूँ। मेरी तो कभी मृत्यु होती ही नहीं है। मृत्यु तो केवल एक देह से दूसरी देह में गमन क्रिया का नाम है, जो कि आयुपूर्ण होने पर अवश्यंभावी है। जीर्ण-शीर्ण और असाध्य रोगी होने पर साधना में असमर्थ देह को छूटना ही चाहिए, अन्यथा जीर्ण-शीर्ण शरीर को कोई कब तक ढोता रहेगा।

(५१)

देह में एकत्व-ममत्व रखने वाले मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) जीवों के लिए मृत्यु दुःखद हो सकती है; क्योंकि उनका शरीर में ही अपनापन होने से वे मृत्यु को अपना सर्वनाश मानते हैं, पर जिन्होंने तत्त्वाभ्यास और वैराग्यजननी बारह भावनाओं के सतत चिन्तन-मनन से संसार, शरीर व भोगों की असारता, क्षणभंगुरता एवं आत्मा की अमरता का भली-भाँति अनुभव कर लिया है, उन भेदविज्ञानियों को तो मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिए। तथा - जिनकी परिजन-पुरजनों के प्रति भी ममता नहीं रही है और देह के प्रति भी अपनत्व टूट चुका है। उन्हें तो मृत्यु के भय से भयभीत नहीं होना चाहिए।

(५२)

जो समाधि के अनुसार जीवन जीना सीख लेता है, वह वर्तमान में तो पूर्ण निराकुल, अत्यन्त शांत और पूर्ण सुखी रहता ही है, उसका अनंत भविष्य भी पूर्ण सुखमय, अतीन्द्रिय, आनन्दमय हो जाता है।

(५३)

मृत्यु तो सभी की एक न एक दिन होने वाली ही है। इस ध्रुवसत्य से तो कोई कभी इंकार ही नहीं कर सकता। जिन्होंने जन्म लिया है, उन्हें आज नहीं तो कल कभी न कभी तो मरना ही है। और जिनका संयोग हुआ है, उनका वियोग भी अवश्य होना ही है। इस स्थिति को कोई भी टाल नहीं सकता तो क्यों न हम वह क्षण आने के पूर्व ही दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों की तथा दूसरों पर अपने अधिकारों की समीक्षा कर लें, कर्तव्यों एवं अधिकारों की यथार्थता को अच्छी तरह समझ लें; ताकि बाद में किसी को कोई पछतावा न रहे।

(५४)

कोई भी किसी के सुख-दुःख का, जीवन-मरण का, उन्नति-अवनति का कर्ता-धर्ता नहीं है, कोई किसी का भला-बुरा कुछ भी नहीं कर

सकता। अतः अब हम घर-गृहस्थी के कर्त्तापने के भार से पूर्ण निर्भार होकर तथा दूसरों के भला-बुरा करने की चिन्ता से मुक्त होकर क्यों न अपने स्वरूप में जमने-रमने का प्रयत्न करें?

(५५)

संयोग न सुखद है न दुःखद। दुःखद तो केवल संयोगी भाव होते हैं, अतः संयोगों पर से दृष्टि हटाकर स्वभाव सन्मुख दृष्टि करना ही श्रेष्ठ है।

(५६)

सम्यग्दृष्टि (आत्मज्ञानी) की दृष्टि में मृत्यु इतनी गंभीर समस्या नहीं है; क्योंकि उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नहीं होता। वह यह बात अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोंपड़ा छोड़कर नये भवन में निवास करने के समान स्थानान्तरण मात्र है, पुराना मैला-कुचैला वस्त्र उतारकर नया वस्त्र धारण करने के समान है।

सम्यग्दृष्टि भगवान् आत्मा को ज्ञानज्योति स्वरूप चैतन्य देव के रूप में देखता है। वह अपने स्वरूप को पर द्रव्यों से पृथक्, रागादि से रहित, शाश्वत ज्ञाता-दृष्टा ही जानता है, मानता है तथा मृत्यु को केवल देह से देहान्तर होने रूप क्रिया मानता है। इसकारण वह मृत्यु से नहीं डरता। जबकि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को अनादि से देह में अपनापन होने से उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व लुटा-लुटा-सा लगता है, अतः उसका भयभीत होना भी स्वाभाविक ही है।

(५७)

जिसप्रकार जिस मिट्टी के साँचे में शुद्ध चाँदी की मूर्ति ढाली जाती है, वह साँचा टूटने पर चाँदी की मूर्ति नहीं टूटती, वैसे ही शरीररूपी साँचे में आत्मा की मूर्ति विराजती है, जो कभी नहीं टूटती।

पर पदार्थ व अपनी पर्याय से भेदज्ञान होने से उसे अपने आत्मा में ही अपनापन रहता है। अतः श्रद्धा व विवेक के स्तर पर उसे मृत्युभय नहीं

होता।

(५८)

मृत्यु के समय ज्ञानी की आँखों में आँसू देखकर ही उसे अज्ञानी नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि उसके अभी केवल अनन्तानुबंधी क्रोधादि कषायों का ही तो अभाव हुआ है। अप्रत्याख्यानादि तीन कषायों की चौकड़ी तो अभी भी उसके विद्यमान है, अतः श्रद्धा तो ज्ञानी की सिद्धों के समान निर्मल हो गई है; पर चारित्रगुण में अभी कमजोरी है, इसकारण वियोग जनित क्षणिक दुःख का वेग आ जाना अस्वाभाविक नहीं है।

(५९)

जिस जीव का जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म-मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है, उस जीव का उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र टालने में समर्थ नहीं हैं, अन्य की तो बात ही क्या है?

(६०)

“तीन लोक में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने स्वभाव से परिणमन करते हैं, कोई किसी का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। जब यह शरीर स्वयं ही उत्पन्न होता है और स्वयं ही बिछुड़ता है, स्वयं ही गलता है, स्वयं ही बढ़ता है तो फिर मैं इस शरीर का कर्त्ता-भोक्ता कैसे?” इसप्रकार संसार, शरीर और आत्मा के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान हो जाने से सम्यग्दृष्टि मृत्यु से नहीं डरता।

(६१)

निर्भय व निर्लोभी हुए बिना सत्य कहा नहीं जा सकता और संपूर्ण समर्पण के बिना सत्य सुना व समझा नहीं जा सकता।

(६२)

यद्यपि दूसरों को समझाने की आपकी भावना उत्तम है। पर वस्तुतः दूसरों को समझाना सहज कार्य नहीं है; क्योंकि समझ बाहर से नहीं अन्दर

से आती है। फिर भी करुणावश या धर्मस्नेहवश यदि कभी विकल्प आवे तो साधक की स्थिति देखकर जैसी परिस्थिति हो, जिन कारणों से वह स्वरूप से विचलित हो रहा हो, उनकी निरर्थकता का ज्ञान कराया जाना चाहिए।

(६३)

हे भव्य आत्मन्! जो दुःख तुम्हें अभी है. इससे भी अनन्त गुणे दुःख तुम इस जगत में अनन्तबार जन्म-मरण करके भोग चुके हो, फिर तुम्हारे आत्मा का क्या बिगड़ा? कुछ भी तो नहीं बिगड़ा। अतः अब इस मृत्यु के थोड़े से दुःख से क्या घबराना?

देखो, तुम्हारा यह पीड़ा चिन्तन आर्तध्यान फिर नये दुःख के बीज बो रहा है। अतः इस पीड़ा पर से अपना ध्यान हटाकर आत्मा पर केन्द्रित करो, जिससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तो होगी ही, नवीन कर्मों का बंध भी नहीं होगा।

(६४)

जो असाता कर्म उदय में दुःख आया है, उसे सहना तो पड़ेगा ही। यदि समतापूर्वक साम्यभावों से सहलोगे तथा तत्त्वज्ञान के बल पर संक्लेश परिणामों से बचे रहोगे और आत्मा की आराधना में लगे रहोगे तो दुःख के कारणभूत सभी संचित कर्म क्षीण हो जायेंगे।

(६५)

तुम चाहे निर्भय रहो या भयभीत, रोगों का उपचार करो या न करो, जो प्रबल कर्म उदय में आया है, वह तो फल दिए बिना जायेगा नहीं। रोगोपचार भी कर्म के मंद उदय में ही लाभप्रद होता है। जब कर्म का तीव्र उदय हो तब कोई भी औषधि निमित्तरूप भी कार्यकारी नहीं होती। अन्यथा बड़े-बड़े वैद्य डॉक्टर तथा राजा-महाराजा तो कभी बीमार ही नहीं पड़ते; क्योंकि उनके पास उपचार के साधनों की क्या कमी? अतः स्पष्ट है कि होनहार के आगे किसी का भी वश नहीं चलता। ऐसा मानकर समताभाव से उस दुःख के भी ज्ञाता-दृष्टा रहना योग्य है। ऐसा करने से ही व्यक्ति अपने मरण को

समाधि मरण के रूप में परिणत कर सकते हैं।

यदि असह्य वेदना हो और उपयोग आत्मा में न लगता हो तो उस समय संसार शरीर व भोगों से विरक्त, स्वरूप साधक उपसर्गजयी गजकुमार, सुकौशल एवं सुकुमाल जैसे तपस्वी मुनिराजों का स्मरण करो और सोचो कि उनमें असह्य वेदना को सहने की सामर्थ्य कहाँ से, कैसे आ गई?

ऐसा सोचने, विचार करने से हममें भी भेद विज्ञान केवल से वैसा ही साहस व सामर्थ्य प्रगट होने लगेंगे, जिससे कठिनतम प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति हममें अवश्य प्रगट होगी।

(६६)

वस्तुतः संसार में भ्रमण करने वाले सभी जीव भूले भगवान हैं। अपने उस भगवत स्वभाव को न जानने-पहचानने रूप भूल मूल में ही हो रही है। इसी भूल का दूसरा नाम तो संसार है। जब तक यह जीव अपनी भगवत्ता को नहीं जानेगा, पहचानेगा; तब तक जन्म-मरण का अभाव नहीं हो सकता। इस दृष्टि से अपने आत्मस्वरूप को न जानना, न पहचानना कोई साधारण भूल नहीं है; क्योंकि साधारण भूल की इतनी बड़ी सजा नहीं हो सकती।

(६७)

जगत में जो जन्म-मरण के दुःख भोग रहे हैं, वे सब स्वयं को न जानने/पहचानने की भूल के कारण ही तो भोग रहे हैं। सभी अपने स्वभाव को भूले हुए हैं। पर यह बात संसारी प्राणियों को समझ में अभी तक नहीं आई। हम अब तक इन दुःखों के कारणों की खोज बाह्य जगत में ही करते रहे हैं, जबकि भूल अपने अंदर ही है। यदि हम अपनी यह भूल स्वीकार कर लें तो फिर हम संसार में संसरण करें ही क्यों?

सौभाग्य यह है कि वह मूलभूत भूल केवल अपनी एक समय की वर्तमान पर्याय में ही हुई है, त्रिकाली आत्मद्रव्य में नहीं। भगवान आत्मतत्त्व तो सदा निर्भूल स्वभावी ही है और उस निर्भूल स्वभावी आत्मा, कारण परमात्मा का आश्रय लेते ही, उस पर दृष्टि डालते ही मिट जाती है। अतः

इस दिशा में हमें सदैव सक्रिय रहना चाहिए।

(६८)

स्त्री-पुरुष-कुटुम्ब-परिवार के प्रति हुआ अनुराग तो दुःखद होता ही है, पर धर्मानुराग भी कम कष्टकारक नहीं होता; क्योंकि साधर्मी वात्सल्य में भी तो गहरा आघात लग सकता है।

(६९)

सर्वज्ञ भगवान के सिवाय कोई नहीं जानता कि किसको/कब/क्या हो जाए। जिस दिन मौत का पैगाम आ जाएगा, यह सब कुछ यहीं ऐसे ही छोड़कर सदा-सदा के लिए चला जाना होगा। केवल भली-बुरी करनी ही अपने साथ जाएगी, जिसका नतीजा नरक-निगोद में जाकर भोगना पड़ेगा।

(७०)

जो कुकर्म करने में जितना शूरीर-दुस्साहसी होता है, यदि वह सुलट जावे तो धर्म के क्षेत्र में भी वह वैसा ही शूरीरपना दिखा सकता है, धर्म के क्षेत्र में भी उतना ही सफल सिद्ध हो सकता है। कहा भी है -

“जे कम्मे सूरा: ते धम्मे सूरा”।

(७१)

धर्म प्रेमियों को जितना प्रेम अपने विषय-कषाय व स्वार्थ के साथ कई स्त्री-पुत्र व कुटुम्ब-परिवार से होता है, उससे भी कई गुना अधिक प्रेम अपने साधर्मीजनों से होता है, और जितना प्रेम साधर्मीजनों से होता है, उससे भी कई गुना अधिक प्रेम देव-शास्त्र-गुरु तथा जिनबिम्ब, जिनालय व धर्म तीर्थों से होता है। तथा जितना प्रेम धर्मायतनों, धर्म के साधनों से होता है; उससे भी कई गुना अधिक प्रेम अपने ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा से, शुद्धात्मा या कारण परमात्मा से होता है।

(७२)

भक्त प्रत्याख्यान सल्लेखना में ऐसी प्रतिज्ञा ली जाती है कि - “मैं

समस्त पापारम्भ से विरक्त होकर पाँचों पापों का त्याग करके मन-वचन-काय व कृत-कारित अनुमोदनापूर्वक विषय-कषाय की रुचि, शोक, भय, अवसाद, अरति आदि कलुश-पाप परिणामों का भी त्याग करके अपने आत्मा में स्थिर होता हूँ।

भक्त प्रत्याख्यान का अर्थ है - आहार को क्रम-क्रम से कम करते हुए धीरे-धीरे त्यागते हुए देह को कृश करना तथा व्रत-नियम-संयम द्वारा कषायों को भी कृश करके देह त्यागना।

दूसरे शब्दों में कहें तो अपनी शारीरिक शक्ति प्रमाण और आयु की स्थिति प्रमाण आहार को घटाकर दूध आदि पेय पीना, फिर क्रम से दूधादि पेय पदार्थों का भी त्याग करके अपनी शक्ति प्रमाण उपवासादि करके आत्मा व परमात्मा के ध्यानपूर्वक विषय-कषायों को कृश करते हुए देह को त्यागना भक्त प्रत्याख्यान समाधि है।

(७३)

सल्लेखना का धारक पुरुष अपने बाह्यभ्यन्तर बल एवं परिणामों को जानकर विषय-कषायों के त्यागपूर्वक शरीरादि बाह्य संयोगों एवं आहारादि का क्रमशः त्याग करता है। तथा जगत के सब प्राणियों के साथ जाने-अनजाने में हुए अपराधों के प्रति हित-मित-प्रिय वचनों के द्वारा क्षमा माँगता हुआ स्वयं भी क्षमाभाव धारण करता है।

(७४)

समाधिमरण में ऐसी प्रतिज्ञा ली जाती है कि ‘यदि उपसर्ग, दुर्भिक्ष या रोग आदि से मैं मुक्त हो जाऊँगा तो ही आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा मरणपर्यन्त अन्नादि आहार का सर्वथा त्याग तो है ही’ तथा वह यह संकल्प करता है कि - ‘मैं सर्वपापों का त्याग करता हूँ, मेरा सब जीवों से समता भाव है, किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है, मैं सर्व विघ्न-बाधाओं को छोड़कर समाधि ग्रहण करता हूँ, कषाय रहित होने का प्रयत्न करता हूँ

तथा स्वरूप में एकाग्रता करके उसी में जमने-रमने का प्रयत्न करता हूँ इसप्रकार वह संपूर्ण आशाओं का और सबसे ममत्वभाव का त्याग करके तत्त्वज्ञान के बल पर कषायों को कृश करते हुए देह का त्याग करता है।

(७५)

कोई कितना भी रागी-द्वेषी या वैरागी क्यों न हो; पर जीवन की अन्तिम घड़ियों में तो प्रायः सभी गृहस्थों के अन्दर अपने परिजनों एवं सगे-सम्बन्धियों से मिलने, उन्हें संबोधन करने, समझाने तथा उनके प्रति हुए अपने अपराधों की क्षमा याचना करने-कराने की भावना जागृत हो ही जाती है। अतः वह सोचता है - सभी रिश्ते शरीर के रिश्ते हैं। जब तक यह शरीर है, तब तक आपके सब रिश्तेदार हैं, शरीर बदलते ही सब रिश्ते बदल जायेंगे। शरीर से ही इन रिश्तों की पहचान है। आत्मा को कौन पहचानता है? जब किसी ने किसी के आत्मा को कभी देखा ही नहीं है तो उसे पहचाने भी कैसे?’

(७६)

समाधिस्थ व्यक्ति कहता है - ‘इस शरीर के भाई-बंधुओ! बेटे-बेटियो! व कुटुम्बीजनो! मेरा आप सबसे कोई भी संबंध नहीं है। ये सब रिश्ते जिसके साथ थे, उससे ही जब मैंने संबद्ध विच्छेद कर लिया है तो अब आपसे भी मेरा क्या संबंध? अतः मुझसे मोह-ममता छोड़ो, मैं भी इस दुखदायी मोह से मुँह मोड़कर सबसे संबंध छोड़ना चाहता हूँ। ऐसा किए बिना सुखी होने को अन्य कोई उपाय नहीं है।

मैं शरीर नहीं, मैं तो एक अखण्ड ज्ञानानंद स्वभावी अनादि-अनन्त एवं अमूर्तिक आत्मा हूँ तथा यह शरीर मुझसे सर्वथा भिन्न जड़ स्वभावी, सादि-सान्त, मूर्तिक पुद्गल है। इससे मेरा कोई संबंध नहीं है।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति



इन भावों का फल क्या होगा से ~

(१)

धर्म आचरण से ही मनुष्य जीवन और पशु जीवन में अन्तर देखा जा सकता है; अन्यथा आहार, निद्रा, भय व मैथुन तो पशु और मनुष्य में समान ही होते हैं।

(२)

जितने देर प्रवचन में बैठे रहते हैं, उतनी देर तक पाप प्रवृत्ति से तो बचे ही रहते हैं। विषय जितना जो पल्ले पड़ा, वही ठीक।

(३)

एक ज्वलंत प्रश्न है कि - जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार जब भगवान वीतरागी होने के कारण पूजक और निन्दक पर तुष्ट-रुष्ट होकर किसी का भला-बुरा करते ही नहीं हैं, राग-द्वेष रहित होने से किसी को कुछ देते-लेते भी नहीं हैं तो फिर उनकी पूजन-अर्चन करने का क्या प्रयोजन है?

(४)

समाधान यह है - जो बिना लौकिक कामना किए उन वीतरागी देव के पवित्र गुणों का स्मरण करता है, उसका मलिन मन स्वतः निर्मल हो जाता है, उसके पापरूप परिणाम स्वतः पुण्य व पवित्रता में पलट जाते हैं।

अशुभ भावों से बचना और मन का निर्मल हो जाना ही जिनपूजा का एवं जिनेन्द्र भक्ति का सच्चा प्रयोजन और फल है।

यह सोचना भी सही नहीं है कि - पूजा का कुछ भी लाभ नहीं होता। यदि तुम पूजा-पाठ नहीं कर रहे होते तो क्या तुम्हारे मन में पूजन के सम्बन्ध में ये प्रश्न उठते, जो अभी उठ रहे हैं? क्या यह जिज्ञासा का जगना कोई लाभ नहीं है, कोई उपलब्धि नहीं है?

दूसरी बात ; यदि हम सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण में नहीं आये होते तो किसी अन्य अदेव-कुदेव की शरण में पड़े होते। अथवा किसी और

पारिवारिक गोरख-धंधे में उलझे होते। निश्चित ही किसी न किसी पापप्रवृत्ति में ही पड़े होते, कोई न कोई विकथा ही करते होते। जितना समय पूजा-पाठ में गया, उतनी देर विषय-कषाय से तो बचे ही रहे न? हानि क्या हुई? अतः इसे सर्वथा निरर्थकता नहीं कह सकते; पर इसी में अटके रहना, इसी को धर्म मानकर संतुष्ट हो जाना ठीक नहीं है; क्योंकि यह सुअवसर बार-बार नहीं मिलता। समुद्र में फैंके मणि की भाँति ऐसे सुअवसरों की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है, जिसमें सत्य की शोध-खोज की जा सकती है।

वास्तविक स्थिति यह है कि अज्ञान दशा में की गई भावशून्य क्रियायें थोथी होती हैं, अभीष्ट फलदायक नहीं होतीं।

जो बिना आत्मज्ञान के धार्मिक क्रियायें करते हैं तथा जो बिना क्रिया किये मोक्षपद चाहते हैं, जो बिना मुक्त हुए अपने को सुखी मानते हैं; वे सचमुच मूर्खों के सरदार हैं। अतः धर्म का यथार्थज्ञान तो होना ही चाहिये।

(५)

फैशन के मामले में दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच गई। पगड़ी गई, साफा आया; साफा गया, टोपी आई; टोपी भी गई, नंगा सिर रह गया; नंगे सिर वालों ने भी नित्य नये आकार बदले; कभी हिप्पीकट तो कभी सफाचट। पर सच्चे सिक्खने न पगड़ी छोड़ी और न जूड़ा छोड़ा। सच्चे मुसलमान ने भी लम्बी दाढ़ी और गोल टोपी नहीं छोड़ी। इसी तरह हमारे जैनकुल के भी कुछ मौलिक सिद्धान्त हैं, धर्म के कुछ नियम हैं। हम उन्हें क्यों छोड़ें?

(६)

दृढ़ता से धार्मिक नियमों का निर्वाह करना बहुत अच्छी बात है। इस अर्थ में कट्टरता बुरी बात नहीं है; परन्तु वह कट्टरता सुपरीक्षित एवं सुविचारित होनी चाहिए; अन्यथा सुधार की संभावनायें सम्पूर्णतः क्षीण हो जायेंगी। बिना परीक्षा किये, बिना विचार किये किसी भी कुल परिपाटी को धर्म मानकर बैठ जाना और उससे टस से मस न होना - यह भी तो कोई धर्म का मार्ग नहीं है। पर ऐसे कट्टरपंथियों को कौन समझाये जो किसी की कुछ

सुनना ही नहीं चाहते, अपनी लीक से हटना ही नहीं चाहते?

(७)

कुलाचाररूप व्यवहार धर्म का निर्वाह सदाचार के संस्कारों को सुरक्षित रखने के लिए ठीक है, परन्तु प्रत्येक कुल एवं प्रत्येक जाति के धर्म का स्वरूप अलग-अलग कैसे हो सकता है? धर्म का स्वरूप तो एक ही होना चाहिए।

वह भगवान कैसे हो सकता है, जो साधारणजन की भाँति ही राग-द्वेष के वशीभूत होकर भक्तों की जरा-जरा सी बात पर रुष्ट-तुष्ट हो जाता है। भगवान तो वीतरागी, सर्वज्ञ, समदर्शी एवं सर्वदर्शी होते हैं।

(८)

यह मनुष्य जन्म और उसमें भी ऐसे सुन्दर संयोग कोई बार-बार थोड़े ही मिल जाते हैं। न जाने किस जन्म का पुण्य फला होगा जो यह सुअवसर हाथ आ गया है। सचमुच यह अंधे के हाथ बटेर आ गई है। अतः धर्म का सही स्वरूप समझ कर हमें इसका तो पूरा-पूरा लाभ उठाना ही होगा।

(९)

धर्म से भय कैसा? धर्मभीरूता ही तो व्यक्ति को धर्मान्ध बनाती है। अतः कोई कुछ भी क्यों न कहे - एक बार तो शान्ति से ऊहापोह करके धर्म एवं पुण्य-पाप की तह तक पहुँचना ही होगा। धर्म के तलस्पर्शी ज्ञान बिना ऊपर-ऊपर से धर्मात्मा बने रहना अपने को अन्धकार में रखना है।

(१०)

लोक जीवन में यदि कोई नास्तिक पापी धर्म के नाम पर, धर्म की आड़ में धोखाधड़ी करे तो इससे धर्म कपोल-कल्पित कैसे हो गया? सभी सच्चे धर्मात्मा ढोंगी कैसे हो गये?

(११)

अज्ञानी होना उतना हानिकारक नहीं है, जितना हानिकारक है अपने

अज्ञान का ज्ञान न होना, अपने अज्ञान को स्वीकार न करना ।

(१२)

जब स्वयं की तैयारी होती है तो साधनों की भी कमी नहीं रहती । इसे ही शास्त्रीय शब्दों में ऐसा कहते हैं कि - “जब अपने उपादान की तैयारी होती है तो निमित्त कारण तो आसमान से उतर आते हैं । देखो न! भगवान महावीर स्वामी के दस भव पूर्व सिंह की पर्याय में जब उपादान में सम्यग्दर्शन होने की तैयारी हो गई तो उपदेश देने के निमित्त के रूप में संजय और विजय नाम के चारण ऋद्धिधारी मुनिराज आसमान से उतर कर आ ही गये ।”

(१३)

प्रत्येक विषय को जानने की ज्ञान पर्यायगत योग्यता स्वतंत्र होती है । और अब तो वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि बुद्धिमान व्यक्ति की बुद्धि भी हर क्षेत्र में एक जैसी कार्य नहीं करती । एक विषय के विशेषज्ञ व्यक्ति दूसरे विषय में सर्वथा अनभिज्ञ भी देखे जाते हैं; क्योंकि प्राप्त ज्ञान में जिस विषय को जानने की योग्यता होती है; वही विषय उस ज्ञान का ज्ञेय बनता है, अन्य नहीं ।

(१४)

अपने बारे में, आत्मा-परमात्मा के बारे में, संसार व भोगों की क्षणभंगुरता एवं संसार की असारता के बारे में विचार करने से माथा खराब नहीं होता; बल्कि ऐसे विचार से अनादिकाल से खराब हुआ माथा ठीक होता है ।

(१५)

यदि तुम भी अपने में होने वाले भावों के बारे में विचार करोगे और उनसे होने वाले भावों के बारे में चिन्तन करोगे तो तुम्हारे जीवन में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकता है और अनोखे आनन्द की झलक आ सकती है ।

(१६)

चिन्ता और चिन्तन में मौलिक अन्तर है, चिन्ता अज्ञान की उपज है,

तत्त्वज्ञान संबंधी अज्ञानता से उसका जन्म होता है और वह स्वयं आकुलता की जननी है । तथा चिन्तन वस्तुस्वरूप की शोध-खोज का सर्वोत्तम साधन है, आत्मोपलब्धि का और अज्ञानजन्य आकुलता को मेटने का अमोघ उपाय है ।

(१७)

परामर्श मानने के लिये कोई किसी को बाध्य नहीं कर सकता, करना भी नहीं चाहिये; किन्तु विचारों के आदान-प्रदान से कभी किसी को कुछ न कुछ लाभ ही होगा । अतः परामर्श करने से संकोच भी नहीं करना चाहिए । विचारशील व्यक्तियों में मतभेद तो होते ही हैं, हाँ इनमें मनभेद नहीं होना चाहिये ।

(१८)

गम्भीर, विचारशील और बड़े व्यक्तित्व की यही पहचान है कि नासमझ और छोटे व्यक्तियों की छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नहीं होते, किसी भी क्रिया की बिना सोचे-समझे तत्काल प्रतिक्रिया प्रगट नहीं करते । अपराधी पर भी अनावश्यक उफनते हैं, नाराज नहीं होते, बल्कि उसकी बातों पर, क्रियाओं पर शान्ति से पूर्वा पर विचार करके उचित निर्णय लेते हैं, तदनुसार कार्यवाही करते हैं और आवश्यक मार्गदर्शन देते हैं ।

(१९)

जिसद्रव्य में जब जो भी कार्य होता है, वह स्वयं द्रव्य की अपनी तत्समय की उपादानगत योग्यता से ही होता है । वह योग्यता ही कार्य का समर्थ उपादान है । यह क्षणिक उपादान कारण पूर्ण स्वाधीन है, स्वतंत्र है, स्वयंसिद्ध है । उसे पर की कतई/कोई अपेक्षा नहीं है ।

उपादान की तत्समय की योग्यता कहो, कार्य सम्पन्न होने का स्व-काल कहो, क्रमबद्ध पर्याय कहो, होनहार कहो, पुरुषार्थ कहो, काललब्धि कहो, पर्यायगत धर्म कहो - सब एक ही बात है, सबका एक ही अर्थ है ।

यद्यपि कार्य सम्पन्न होने के काल में कार्य अनुकूल परद्रव्य रूप निमित्त अवश्य ही होते हैं; परन्तु उन निमित्तों का कार्य के सम्पन्न होने में कतई कोई

योगदान नहीं होता। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

(२०)

शेयरबाजार का कुछ स्वरूप ही ऐसा है कि जब भाव चढ़ते हैं तो अनायास ही आसमान छूने लगते हैं और जब उतरते हैं तो अनायास ही पाताल तक पहुँच जाते हैं। कब/क्या होगा, पहले से कुछ ठीक से अनुमान भी नहीं लगता। इसकारण लोगों के परिणामों में बहुत उथल-पुथल होती है, हर्ष-विषाद भी बहुत होता है। दोनों ही स्थितियों में नींद हराम हो जाती है। व्यक्ति सामान्य नहीं रह पाता। अतः बिजनेस वही सर्वोत्तम है जो अशान्ति और आकुलता का कारण न हो।

(२१)

अपने विचित्र पाप परिणामों के फल से अनजान व्यक्ति ही उन पाप परिणामों में निरन्तर रमा रहता है और जिसे यह भान हो जाता है कि वे परिणाम काले नाग जैसे जहरीले हैं तो फिर वह उनसे बचने का उपाय सोचता है।

(२२)

तत्त्वज्ञान का समझना कोई बड़ी बात नहीं है; पर समझने की रुचि एवं तदनुसूत भावों का होना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु संसार का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि यहाँ सबको सभी प्रकार की अनुकूलताएँ नहीं मिल पातीं; क्योंकि ऐसा अखण्ड पुण्य सबके पास नहीं होता। अतः सुअवसर का लाभ लेने से नहीं चूकना चाहिए।

(२३)

व्यक्ति के वर्तमान ज्ञान में जब जो समझने की योग्यता हो, तभी वह बात उसकी समझ में आती है, फिर भी धर्मप्रेमी जीवों को भूमिकानुसार बार-बार समझाने का भाव आये बिना नहीं रहता।

(२४)

तीर्थकरों तक ने पहले शादी-विवाह किये, बेटा-बेटी हुये, पारिवारिक उत्तरदायित्व संभाला, समाजसेवा की, राज-पाट संभाला; तत्पश्चात् दीक्षित

हुये, स्वपर कल्याण किया। यही राजमार्ग है। इसे नकारा नहीं जा सकता।

(२५)

दूसरों की हँसी उड़ाना जितना आसान है, उसका सही समाधान खोज कर सन्तुष्ट कर पाना उतना ही अधिक कठिन है।

(२६)

चाहे कोई बालक हो या वृद्ध, ज्ञानी हो या अज्ञानी, नारी हो या पुरुष; कर्म वर्गणाएँ तो सबको योग और कषायों के अनुसार एक जैसी ही आस्रवित होती हैं और बँधती हैं। किसी की उम्र का कोई लिहाज नहीं करती और न समझदार गैर समझदार में ही फर्क करती हैं। कर्मवर्गणाएँ तो सबको मिथ्यात्व एवं कषाय भावों के अनुसार बंधती ही हैं। कषायों की हीनाधिकता के अनुसार समय पर सबको अपना फल भी देती ही हैं। इसीलिए तो कहते हैं कि बाल्यकाल से ही यह जानकारी होना जरूरी है कि - कैसे-कैसे भावों से किसप्रकार का कर्मबंध होता है और उनका क्या फल होता है?

धर्म-अधर्म की सही पहचान न होने से अधर्म को ही धर्म समझकर उसका धारण करते रहने से अन्ततोगत्वा निगोद में जाना पड़ता है।

पहले कभी ऐसी ही खोटी परिणति रही होगी, जिसका फल अभी भोग रहे हैं और अब भी यदि इसी स्थिति में यह दुर्लभ मनुष्य भव बीत गया तो फिर अनन्तकाल तक इसी भव सागर में गोते खाने पड़ेंगे।

(२७)

जिस प्रकार पाँचों उंगलियाँ एक जैसी नहीं होगी; उसी प्रकार सभी व्यक्ति भी एक जैसे नहीं होते, उनकी रुचियाँ एक जैसी नहीं होतीं।

(२८)

धर्म करने की कोई निश्चित उम्र नहीं होती। धर्म तो जीवन का अभिन्न अंग होना चाहिए। क्या पता कब/क्या हो जाए? अंत में धर्म ही तो हमारा सच्चा साथी है।

(२९)

(३५)

नारी के जीवन में सबसे बड़ा दुःख उसके वैधव्य का होता है। इससे

अधिक दुःखद स्थिति नारी के जीवन में अन्य कोई नहीं होती। दुर्दैव से यदि यह दुःखद परिस्थिति विवाह के तुरन्त बाद ही बन जाये, तब तो मानो उस पर विपत्तियों के पहाड़ ही टूट पड़ते हैं। पति के अभाव में सारा जीवन अंधकारमय तो बन ही जाता है, साथ ही और भी अनेक विपत्तियों की घनघोर घटायें घेर लेती हैं।

पुरातन पन्थी नारियाँ अपने अन्धविश्वास के कारण अपनी ही नारी जाति की कितनी कैसी वैरिन बन जाती है - कोई सोच भी नहीं सकता। और वैसे ही विचार रखने वाले पुरुष भी उन्हीं की हाँ में हाँ मिलाकर उनका साथ देने में दो कदम आगे हो जाते हैं।

मांगलिक माने जाने वाले विवाह आदि के नेग-दस्तूरों में महिलायें ही विधवा नारी की परछाईं से परहेज करने लगती हैं। नन्हें-नन्हें बालक-बालिकाओं को भी विधवा के पास नहीं फटकने देतीं।

कोई कटु सत्य सुन सके या न सुन सके, सह सके या न सह सके, पर जो सुख-दुःख होना होता है, वह तो होकर ही रहता है।

वैसे तो नारी का सुहाग छिन जाना नारी जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। वह धैर्य धरे भी तो कैसे धरे? तत्वज्ञान एक ऐसा सहारा है, जिसके बल पर बड़ी से बड़ी प्रतिकूलता में भी समतापूर्वक रहा जा सकता है। अतः इस दिशा में प्रयास होना चाहिए।

(३०)

जो व्यक्ति अपनी पत्नी और सन्तान का सही ढंग से भरण पोषण, देख-रेख और संरक्षण जैसे अनिवार्य कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता, उसे शादी-ब्याह रचाकर पत्नी और संतान के सुख की कल्पना करने का भी अधिकार नहीं है। अधिकार और कर्तव्य दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। कर्तव्य भूलते ही अधिकार भी स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

ह

ह

ह

जैसे इस सूर्य की इहलीला समाप्त हो रही है, इसका प्रकाश व प्रताप

प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है; ठीक इसी तरह मानव जीवन भी प्रतिपल मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। यह जीवन सूर्य की भाँति ही द्रुतगति से मृत्युरूपी अस्ताचल की ओर बढ़ रहा है; अतः जीवन का प्रकाश रहते यथा संभव शीघ्र ही आत्मावलोकन कर लेना चाहिए। इन जगत के प्राकृत दृश्यों के देखने में अपने समय को खराब नहीं करना चाहिए।

(३१)

जंग जीतना आसान है, पर व्यसनों से पार पाना कठिन है। जो दिन में दस-दस पैग पीता हो, दिन-रात शराब के नशे में धुत्त रहता हो और मुँह से रेलगाड़ी के कोयले के इंजन की तरह सिगरेट का धुँआ छोड़ता ही रहता हो, दिनभर आँखों में नींद भरे अर्द्ध विक्षिप्त सा पड़ा रहता हो, जिसका न खाने-पीने का सही समय हो, न सोने-जागने का कोई निश्चित समय। तेज मसालों का तीखा गरिष्ठ भोजन करना और नित्य नई-नई नगर वधुओं के द्वार पर दस्तक देना ही जिसका काम हो - ऐसा व्यक्ति फिलहाल जो भी, जितना भी त्याग करता है, अच्छा ही है। थोड़े से त्याग की शुरुआत भी उसे धीरे-धीरे सन्मार्ग पर ला सकती है।

(३२)

बड़े से बड़े धर्मात्मा भी धर्मात्मा बनने के पहले तो पापी ही थे। पापी ही तो पाप का त्याग कर एक न एक दिन पुण्यात्मा और धर्मात्मा बनते हैं। श्रीकृष्ण के पुत्र शंभुकुमार एवं राजा मधु की पौराणिक कथा इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। शंभुकुमार ने अपने पापों का प्रायश्चित्त करके आत्म साधना के अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा गृहस्थपना छोड़कर मुनिधर्म अंगीकार कर निज स्वभाव साधन द्वारा उसी भव में घातिया-अघातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान एवं मोक्ष प्राप्त किया।

(३३)

सभी महान आत्माएँ भी तो कभी न कभी इसी तरह भूले-भटके ही थे। तभी तो वे भी संसार में जन्म-मरण करते रहे। जब संभले-सुधरे तभी तो उन्हें भी मोक्ष मिला। अतः पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। पापी तो

कभी भी परमात्मा बन सकता है।

(३४)

देह को रोगी होने पर देह और आत्मा की भिन्नता और वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को सतत् याद रखना, अपने किए पापों के फल का विचार और संसार की असारता का बारम्बार स्मरण करना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा पीड़ाचिन्तन आर्तध्यान का फल तो अधोगति ही है; क्योंकि इसमें परिणाम निरन्तर संक्लेशमय रहते हैं, जिनका फल नर्क एवं पशुगति है।

(३५)

जिनकी भली होनहार होती है, उनका ही पुरुषार्थ सही दिशा में सक्रिय होता है और इन्हें निमित्त भी तदनुकूल मिलते ही हैं। जिनकी भली होनहार हो उनको ऐसा विचार आता है कि 'मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? यह चरित्र कैसे बन रहा है? ये जो मेरे भाव होते हैं, इनका क्या फल लगेगा?'

(३६)

यह मूढ़ जगत थोड़ी सी लौकिक अनुकूलता में कपोल-कल्पित सुख मानकर बैठा है और इन्हें ही अपनी भली होनहार मानता है; जबकि ये सब क्षणिक संयोग है। एकक्षण में ही इन सभी अनुकूलताओं को प्रतिकूलताओं में पलटते देर नहीं लगती। यह कैसी भली होनहार है, जो पल भर में बुरी होनहार में पलट जाती है? सच्चे धर्मात्मा तो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की शरण प्राप्त होने को ही अपना भाग्योदय मानते हैं? धर्म की रुचि एवं तत्त्व को समझने की जिज्ञासा जगने को ही अपना अति पुण्य का उदय, धन्य जीवन और भली होनहार मानते हैं।

(३७)

भारतीय भूमि पर जन्में मानवों में धर्म का ज्ञान हो या न हो, वे धर्म के सही स्वरूप को जानते हों या न जानते हों, वे धर्मात्मा हों या न हों; पर धर्म करने की भावना एवं धर्मात्मा बनने की भावना तो प्रायः सभी में रहती ही है और अपनी-अपनी समझ के अनुसार प्रायः सभी धर्म साधन भी करते

ही हैं।

पापी से पापी व्यक्ति, चाहे वह बूचड़खानों में कसाई के करम करने वाला हो; दिन-रात, झूठ-फरेब, धोखा-धड़ी करने वाला हो; एक नम्बर का चोर ठग या डाकू हो, गुण्डा-बदमाश हो; ऐसा महालोभी हो कि पैसे को ही परमात्मा समझ बैठा हो; शराबी-कबाबी हो, सभी दुर्व्यसनों में लिप्त हो; वह भी अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार शक्ति प्रमाण धर्म के नाम पर कुछ न कुछ अवश्य करता है। चाहे वह कबूतरों को दाना चुगाने का रूप हो, चींटियों के बिलों में आटा बिखेरने का रूप हो, गायों को चारा देने का रूप हो, भले वह देवी-देवताओं के चित्रों के आगे अगरबत्ती जलाने का रूप ही क्यों न हो; पर सुबह-शाम दोनों संध्याओं के समय कुछ न कुछ करेगा अवश्य, तभी अपने-अपने धंधे पर जायेगा। पर बिना विवेक के यह सब करने से कोई लाभ नहीं होता। यह सब तो कोरी आत्मसंतुष्टि मात्र है। स्वयं को धोखे में रखना है। पाप-परिणति किसी भी कारण हो, उससे पापबंध तो होगा ही होगा। आजीविका आदि का बहाना उस पापबंध से नहीं बचा सकता।

(३८)

धर्म प्रदर्शन की वस्तु नहीं, धर्म तो आत्मदर्शन का नाम है; जिसका विस्तृत विवेचन जैन दर्शन में है। केवल जैनकुल में जन्म ले लेने से और धर्मायतनों के निर्माण में धन दे देने से भी धर्म उपलब्ध होने वाला नहीं है। उसके लिए स्वयं को जैनदर्शन का अध्ययन स्वाध्याय तो करना ही होगा, तभी इस लोक में और परलोक में भी सुख मिल सकेगा।

लोकोपकारी कार्यों को देखकर लोक भले ही इसकी देह को ससम्मान चंदन की चिता से जलायें, बड़े-बड़े नेता इसकी श्रद्धांजलि सभार्यें करें और उनमें इसके इन कार्यों का गुणगान करें; पर इन सबसे इसके आत्मा को क्या लाभ होगा? कुछ भी नहीं।

(३९)

(३७)

व्यक्ति जिसे अपना सौभाग्य समझे बैठा है, भाग्योदय माने बैठा है;

वही उसके लिए दुर्भाग्य बनकर क्रूर काल बनकर उसे कब धर दबोचेगा - इसकी उसे कल्पना भी नहीं है। उसे नहीं मालूम कि यह परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान उसे किस नर्क के गर्त में धकेल देगा।

(४०)

बड़ा सेठ, बड़ा विद्वान, बड़ा नेता या बड़ा अभिनेता कोई भी बड़ा नामधारी व्यक्ति हो, यदि वह तत्त्वज्ञान विहीन है तो उसे बड़प्पन नाम की बीमारी हो ही जाती है। फिर वे छोटे विद्वानों की, छोटे साधुओं की, छोटे प्रवचनकारों की उपेक्षा करने लगता है, भले ही वे छोटे, उससे बुद्धिबल में, ज्ञान-वैराग में बड़े-चढ़े ही क्यों न हों?

बड़े लोगों का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह होता है कि उनके तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के अवसर दुर्लभ हो जाते हैं। ये बड़े लोग छोटे विद्वान से तत्त्व की बात कैसे सुन सकते हैं? भले ही स्वयं को उस विषय का काला अक्षर भैंस बराबर ही क्यों न हो? उनका यह बनावटी 'बड़प्पन' उनके तत्त्वज्ञान में सबसे बड़ी बाधा बन जाता है।

जब तक कोई किसी बड़े कार्यक्रम में अतिथि-विशेष बनाकर इन बड़े लोगों को न बुलाये, तब तक वे वहाँ जा नहीं सकते, बड़े आदमी जो ठहरे। बुलाये जाने पर पहुँच जाने के बाद भी वहाँ पूरे समय नहीं ठहरते। उन्हें लगता है, अधिक देर तक रुकने से कहीं छोटा न समझ लिया जाऊँ।

वे छोटे-छोटे विद्वान की पहचान उनके आगम ज्ञान या तत्त्वज्ञान से नहीं; बल्कि उनके सामाजिक प्रभाव से करते हैं, उनके अनुयायियों या प्रशंसकों की संख्या से करते हैं। अथवा कौन उन्हें कितना सम्मान दिला सकता है? इससे करते हैं। ये हैं उनके विद्वानों को बड़ा मानने के मापदण्ड। पर ये सब तो पुण्याधीन हैं। इनसे तत्त्वज्ञान का क्या संबंध? यद्यपि तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में सातिशय पुण्योदय का भी योगदान होता है, पर ऐसा तत्त्वज्ञान और पुण्योदय का मणिकांचन योग तो विरले विद्वान वक्ताओं के

ही होता है। अरे! तत्त्व जिज्ञासुओं को सबको सुनना चाहिए।

(४१)

जब कोई व्यक्ति दो-चार दिन की यात्रा पर घर से बाहर जाता है तो वह नाश्ता-पानी और पहनने-ओढ़ने के कपड़ों की व्यवस्था करके तो जाता ही है। कब कहाँ ठहरना है, वहाँ क्या व्यवस्था होगी? इसका भी पहले से ही पूरा सुनियोजन करता है और करना भी चाहिए। अन्यथा जो परेशानियाँ होती हैं, उनसे कोई अनजान नहीं है।

जब ट्रेन में एक रात बिताने के लिए महीनों पहले से रिजर्वेशन कराये जाते हैं, सौ-सौ रुपये अतिरिक्त देने पड़ें तो वे भी देते हैं, पाँच-पाँच हजार रुपया रोज के पंच सितारा होटलों में महीनों पहले कमरे बुक कराते हैं; तो हमारी समझ में यह बात क्यों नहीं आती कि इस जन्म से अगले जन्मों की अनन्तकालीन लम्बी यात्रा करने के लिए भी कहीं/कोई रिजर्वेशन की जरूरत होती है? जिसका रिजर्वेशन इस धूल-मिट्टी के धन से नहीं, बल्कि धर्म के धन से होता है।

(४२)

अरे भाई! साठ-सत्तर साल के इस मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए जब हमें दिन-रात के २४ घण्टे भी कम पड़ते हैं तो उसकी तुलना में अनन्तकाल के भावी जीवन की लम्बी यात्रा के बारे में हम क्यों नहीं सोचते कि उसको सुखमय बनाने के लिए हम क्या कर रहे हैं? और जो भी धर्म के नाम पर कर रहे हैं, क्या वह पर्याप्त है? क्या वह सही है? इसका भी लेखा-जोखा कभी किया है हमने?

(४३)

भविष्य को सुखमय बनाने की बात तो बहुत दूर की है, अभी तो वर्तमान के सुखाभास के चक्कर में ही हम आर्त-रौद्रध्यान करके अपने भविष्य को अंधकूप में धकेलने का ही काम कर रहे हैं।

सचमुच अपने शेष जीवन का एक क्षण भी अब राग-रंग में, विषय-

कषाय में एवं इन्द्रिय के भोगों में खोना मानो अनन्त काल के लिए अनन्त दुःखों को आमंत्रण देना है। नरक-निगोद में जाकर असीमित दुःखों के गर्त में गिरना है।

धन-धान्य, सोना-चाँदी, राज-पाट - ये सब सांसारिक सुख तो अनन्तबार मिले, अतः ये सब तो सुलभ हैं; पर तत्त्वज्ञान अनादिकाल से आज तक नहीं मिला, इसकारण अब भी उसकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है।

अतः अब एकक्षण भी इन विषय-कषायों व राग-द्वेष में बर्बाद करना उचित नहीं है। और सुनो! व्यवहार धर्म भी हमने बहुत बार पालन किया। इतनी बार तो हम दिगम्बर मुनि बने कि यदि हम अपने उन पिच्छि-कमण्डलुओं के ढेर लगायें तो सुमेरू पर्वत बराबर ढेर होगा, फिर भी तत्त्वज्ञान से अछूते रहने के कारण मोक्षमार्ग नहीं मिला। अतः अकेले व्यवहार धर्म में ही अटके रहना ठीक नहीं है; बल्कि इसी जीवन में यथार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्त करना है।

धन कमाते-कमाते, धन का विविध भोगों में उपयोग करते-करते यदि जिन्दगी बीत जायेगी तो पुनः यह अवसर नहीं आयेगा।

जो धर्म शास्त्रों के स्वाध्याय को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लेते हैं, वे तत्त्वज्ञान के बल से धीरे-धीरे अपनी इच्छाओं को जीत लेते हैं; और विषयों की निःसारता को भली-भाँति समझ लेते हैं। इसकारण उनको विषयों की इच्छा व्यर्थ लगने लगती है। वे अपने पुण्योदय से प्राप्त न्यायोपात्त सामग्री में ही संतुष्ट रहते हैं। ऐसे जीव ही सचमुच धर्मात्मा हैं।

(४४)

अभी हमें धर्म से धन अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। अरे! जिस धन के लिए हम ऐसे पागल हो रहे हैं, वह धन तो धर्मात्माओं के चरण चूमता हुआ चला आता है और धर्मात्मा उसकी ओर देखते तक नहीं हैं। क्या देखे उसे? अतः अर्थशास्त्र के साथ-साथ यदि धर्मशास्त्र का भी गहन अध्ययन

किया जाये तो निश्चित ही सन्मार्ग मिलना सुलभ हो सकता है।

जो चक्रवर्ती भोग भोगते हुए चक्रवर्ती पद में ही मरता है, वह नियम से नरक में ही जाता है। आर्त-रौद्रध्यान से मरने वालों को इनके फल में कैसी-कैसी कुगतियाँ प्राप्त हुई, इसका विस्तृत विवरण देखना हो तो पुराणों को पढ़ो, सब पता लग जायेगा।

बहुत से लोगों को तो यह भी पता नहीं होगा कि ये नरक-निगोद क्या बला है? अरे भाई! ये ऐसी दुर्गतियाँ हैं जहाँ हमें हमारे पापाचरण का भयंकर फल प्राप्त होता है, अत्यन्त दुःखद स्थिति में सागरोपर्यन्त रहना पड़ता है। यदि उन्हें यह पता होता तो वे लोग व्यर्थ ही इस आर्त-रौद्रध्यान रूप पापभावों के चक्कर में नहीं पड़े रहते, जिसके फल में ये कुगतियाँ मिलती हैं।

जो लोग परिग्रह में मग्न रहकर, पाँचों इन्द्रियों के विषयों में सुख मानकर, उन्हीं के संग्रह और भोगोपभोग में अपना अमूल्य समय बर्बाद करते रहते हैं; वे लोग नियम से इन नरकों में जाते हैं, जहाँ भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और परस्पर कलह आदि के अन्तहीन असह्य दुःख भोगते हैं।

सदाचारी और अहिंसक रहने में तो लाभ ही लाभ है, हानि क्या है? हम तो स्वस्थ और प्रसन्न रहेंगे ही, दूसरे प्राणी भी निर्भय होकर जी सकेंगे।

(४५)

यद्यपि नरक हमें दिखाई नहीं देते फिर भी उनका अस्तित्व आगम युक्ति और तर्कों से सिद्ध होता है। देखा तो हमने अपने पितृकुल के पूर्वजों को भी नहीं है, फिर भी वे थे या नहीं? यदि वे न होते तो हम कहाँ से कैसे होते?

नरकों के अस्तित्व को सिद्ध करने की दूसरी युक्ति यह है कि - यदि कोई एक जीव की हत्या करता है तो उसका फल एक बार फाँसी की सजा है; परन्तु जो रोजाना अपने शारीरिक सुख और जिह्वा के स्वाद के लिए अनन्त जीवों की हिंसा करता हो, उसको अनन्तबार फाँसी जैसी सजा इस

नरभव में तो मिलना संभव नहीं है। अतः कोई ऐसा स्थान अवश्य होना चाहिए कि जहाँ प्रति समय मरण-तुल्य दुःख हो; बस उसी स्थान का नाम नरक है, जो कि विषयानन्दी रौद्रघान के फल में प्राप्त होता है। बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह के धारक को नरक आयु का और मायाचार करने वालों को तिर्यच आयु का बंध होता है।

(४६)

यह सब संयोग तो पुण्य के आधीन हैं, जिसके पास पैसा आता है, छप्पर फाड़कर चला आता है और जिसके भाग्य में नहीं होता तो दिन-रात दुकान पर बैठे-बैठे मक्खियाँ भगाया करता है। अतः पुण्य-पाप पर भी थोड़ा भरोसा करके समय अवश्य निकालो।

हम लोग तो सचमुच पुराने पुण्य का फल भोग रहे हैं। नई कमाई तो अभी तक कुछ भी नहीं की। वह काहे का व्यापार, जिसमें पाप ही पाप हो? सचमुच आत्मकल्याण का व्यापार ही असली व्यापार है।

(४७)

मनुष्य की जिन्दगी ही कितनी है? अधिक से अधिक शतायु हुए तो बीस-पच्चीस वर्ष ही और मिलेंगे, भरोसा तो एक पल का भी नहीं है। मान लो! दस-बीस वर्ष मिल भी गये तो वे भी अर्द्धमृतक सम बुढ़ापे में गुजरने वाले हैं। यदि तत्त्वज्ञान के बिना ही हमारा यह जीवन चला गया तो फिर हमें अगला जन्म कहाँ/किस योनि में लेना पड़ेगा, इसका विचार हमें अवश्य करना चाहिए।

दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते हमारे जो अधिकांश छोटे भाव रहा करते हैं, उनका क्या फल होगा? यदि हम मरकर मच्छर बन गए तो हमारे बेटे ही हम पर डी.डी.टी. छिड़ककर मार डालेंगे। यदि अपने घर की ही खाट में खटमल हो गए तो हमारे बेटे-बहू ही केरोसीन छिड़ककर हमारी जान ले लेंगे। यदि कुत्ता-बिल्ली के पेट में चले गए तो नगरपालिकाओं द्वारा पकड़वाकर मरवा दिए जायेंगे। यदि गाय-भैंस-बैल आदि पशु हो गए

तो क्या वहाँ रहने को एयरकंडीशन, मच्छरों से बचने को गुडनाइट और सोने के लिए डनलप के गद्दे मिलेंगे? अरे! खाने को मालिक जैसी सड़ी-गली भूसे की सानी (पशुओं का भोजन) बनाकर रख देगा, वही तो खानी पड़ेगी।

यदि ऊँट, बैल, भैंसा, गधा, घोड़ा हो जायेंगे तो शक्ति से भी कई गुना अधिक भार लाद कर जोता जायेगा; चलते नहीं बनेगा तो कोड़े पड़ेंगे, लातों-घूसों से मार पड़ेगी; नाक छेदी जायेगी, चौबीसों घंटे बाँधकर रखा जाएगा। और क्या-क्या होगा?

यदि एकेन्द्रिय-दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय हो गये तो दुःखों का कहना ही क्या है? रोँदे जायेंगे, पैले जायेंगे, गन्दी नालियों में पड़े-पड़े, बिल-बिलायेंगे, आग में जला दिये जायेंगे। मछली, मुर्गी, सूअर, बकरा, हिरण जैसे दीन-हीन पशु हो गये तो मांसाहारियों द्वारा जिन्दा जलाकर भूनकर, काट-पीट कर खाया जायेगा।

यदि हम चारों गतियों के अनन्तकाल तक ऐसे अनन्त दुःख नहीं सहना चाहते हैं तो अपने वर्तमान परिणामों की परीक्षा कर लें और शास्त्रों में लिखे उन परिणामों के फल पर विचार कर लें। और सोच लें कि अब हमें अपने शेष जीवन का किस तरह सदुपयोग करना है?

यह समाज की झूठी-सच्ची नेतागिरी, यह न्याय-अन्याय से कमाया धन, ये स्वार्थ के सगे कुटुम्ब परिवार के लोग कहाँ तक साथ देंगे? क्या सम्राट सिकन्दर के बारे में नहीं सुना? उसने अनेक देशों को लूट-खसोटकर अरबों की सम्पत्ति अपने कब्जे में कर ली थी। अन्त में जब उसे पता चला कि मौत का पैगाम आ गया है, तब उसे अपने किए पापों से आत्मग्लानि हुई, पर 'अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत।'

(४८)

पिछली कुछ दशाब्दियों से धर्म की साधना केवल पूजापाठ, विधि-विधान, व्रत-उपवास, जप-तप तक ही सीमित हो गई थी। स्वाध्याय में

केवल कथा-पुराण पढ़ने का ही रिवाज रह गया था। बहुत हुआ तो त्यागी-ब्रती व पण्डित वर्ग करणानुयोग के गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि की मोटी-मोटी चर्चा करके अपने में संतुष्ट हो लेते थे। इसतरह से अध्यात्म की धारा तो अवरुद्ध ही हो गई थी। इसकारण धर्मध्यान की सीमायें पुण्य-पाप की धूप-छाँव तक ही सीमित होकर रह गई थीं, वीतराग के धर्मधाम की सीमायें पुण्य-पाप की धूप-छाँव तक ही सीमित होकर रह गई थीं, वीतराग के धर्मधाम तक पहुँच ही नहीं पाई।

लौकिक बातें बताने को तो लौकिकजन ही बहुत हैं। धर्म पुरुषों से तो विशुद्ध धर्मोपदेश और तत्त्व की चर्चा ही अपेक्षित है। अन्यथा और कौन करेगा यह अध्यात्म की चर्चा? जिससे जैनधर्म जीवित है, जो जैनदर्शन का प्राण है।

दया-दान, खान-पान, पूजा-पाठ आदि तो सभी दर्शनों में लगभग समान ही हैं। जैनधर्म की यदि कोई विशेषता है और जिसकारण वह अन्य दर्शनों से भिन्न है, वह तो एकमात्र अध्यात्म ही है। अतः इसकी चर्चा तो हर हालत में होना ही चाहिए।

जिस दर्शन में समयसार, प्रवचनसार जैसे वस्तुस्वरूप के निरूपक; सर्वज्ञता, अकर्तृत्ववाद और वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध एवं प्रसिद्ध करने वाले ग्रन्थराज हों और मोक्षमार्गप्रकाशक जैसा सन्मार्ग-दर्शक प्रकाश-स्तम्भ हो, वहाँ यह आध्यात्मिक दृष्टिहीनता का अंधकार क्यों? समझ में नहीं आता अध्यात्म की इस उर्वरा भूमि पर यह आध्यात्मिक दरिद्रता क्यों?

आध्यात्मिक वातावरण की कमी का एकमात्र कारण अरुचि एवं अपरिचय ही है। इस दिशा में प्रयत्न किया जाये तो आशातीत लाभ हो सकता है।

(४९)

जैसे कोई व्यक्ति हीरा को तो पहचाने नहीं और कांच को ही हीरा मानकर कांच के बदले हीरे के दाम दे दे तो ठगाया ही जायेगा। उसीतरह

कोई वीतराग-सर्वज्ञदेव को तो पहचाने नहीं और उनके स्थान पर रागी-द्वेषी-मोही देव गति के देवों को अथवा अन्य अदेवों को देव मानकर भगवान की तरह पूजने-मानने लगे तो वीतरागतारूप हीरा तो उसके हाथ लगेगा नहीं, मोक्षरूपी रत्नत्रय का व्यापार तो होगा नहीं; राग-द्वेष-मोह के झमेले में ही उलझ जायेगा।

(५०)

जो स्वयं दुःखी हैं, वे हमें सुखी कैसे करेंगे? इसतरह वीतरागी देव से विपरीत रागी-द्वेषी देवगति के देवों को व अन्य अदेवों को मानने-पूजनेवाला धर्म के सही मार्ग पर नहीं है।

ज्ञानानंदस्वभावी, अनादि-अनंत, अखंड-अनंत, चिन्मात्र ज्योति स्वरूप आत्मा के स्वरूप को तो जाने-पहचाने नहीं और इसके विपरीत जड़ देह व चेतन जीव को एक मानकर अथवा जड़ देह को ही चेतन जीव मानकर जीव को ज्ञानानंद स्वभाव के विपरीत सुखी-दुःखी, नाशवान, रागी-द्वेषी-मोही मान ले तो वह भी विपरीत मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसने आत्मा के स्वरूप को यथार्थ न जानकर जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा की।

जो अजीवतत्त्व को अजीव न-मानकर शरीर की उत्पत्ति में अपनी आत्मा की उत्पत्ति, शरीर के नाश में आत्मा का नाश मानकर विपरीत श्रद्धा करते हैं; आस्रव एवं बंध तत्त्व जो दुःखदायी हैं, उनका सेवन करके आनन्द मानते हैं; संवर-निर्जरा जो सुखद व सुख स्वरूप हैं, उन्हें कष्टदायक मानते हैं; मोक्ष को कर्मबन्ध से मुक्ति के रूप में सिद्धस्वरूप न मानकर विभिन्न रूपों में आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को समाप्त हुआ ही मानते हैं - वे भी विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं।

लोक के समस्त पदार्थ या वस्तुयें अनंत धर्ममय हैं, अनंत गुणमय हैं, अनंतशक्तियों से सम्पन्न हैं। जो व्यक्ति वस्तुओं के ऐसे अनेकान्त स्वरूप न मानकर मात्र उनके किसी एक ही धर्म या स्वभाव को स्वीकार करते हैं, वे एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं।

आत्मा अनादि-अनन्त होने से नित्य भी है और प्रति समय परिणमन करने की अपेक्षा अनित्य या क्षणिक भी हैं; पर एकान्ततः या तो नित्य ही मानना या क्षणिक ही मानना तथा आत्मा की भाँति ही अन्य सब पदार्थों को भी एकांततः नित्य या अनित्य ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

लोक की सभी वस्तुओं में अस्ति-नास्ति, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, सत्-असत् आदि परस्पर विरोधी अनेक धर्म (स्वभाव) हैं। उन्हें नय सापेक्ष न मानकर सर्वथा अस्तिरूप या नास्तिरूप ही मानना। एकान्ततः एकरूप ही अथवा अनेकरूप ही मानना; जबकि आत्मवस्तु अभेद अखण्ड होने से एक भी है और गुणभेद होने से अनेक भी है - पर एकान्त दृष्टि वाला ऐसा नहीं मानता। बस यही उसका एकान्त मिथ्यात्व है।

कोई व्यक्ति पुरुषार्थ का एकान्त करके अन्य समवायों का सर्वथा निषेध करते हैं तो कोई भाग्य के भरोसे ही बैठकर पुरुषार्थ का निषेध करते हैं, जबकि कार्य के होने में सभी समवायों का अपना-अपना स्थान है। हाँ, कथन में कहीं कोई एक मुख्य होता है तो कहीं कोई दूसरा।

तीसरी बड़ी भूल **विनय मिथ्यात्व** के रूप में होती है; क्योंकि 'विनय' पाप भी है, पुण्य भी है और धर्म भी है। मिथ्यात्व में '**विनयमिथ्यात्व**' सबसे बड़ा पाप, सोलहकारण भावना में '**विनयसम्पन्नता भावना**' सबसे बड़ा पुण्य तथा तपों में '**विनय नामक तप**' सबसे बड़ा धर्म है। तीनों में नाम साम्य होने से भ्रमित होने के अवसर अधिक हैं; अतः इन्हें अच्छी तरह समझकर विनय मिथ्यात्व छोड़ने योग्य है।

रागी-द्वेषी एवं विषय-कषायों में रचे-पचे कुगुरु-कुदेव व कुधर्म को भी मानना-पूजना तथा वीतरागी देवों को भी मानना-पूजना; वीतरागी एवं रागी देवों एवं निर्ग्रन्थ व सग्रन्थ गुरुओं को समान आदर देना - यह **विनय मिथ्यात्व** है। ऐसा करने से वीतरागी देव एवं निर्ग्रन्थ गुरु की सही समझ न होने से उनका अनादर तो होता ही है, भोले जीवों को भ्रमित होने और सन्मार्ग से भटक जाने के अवसर बहुत बढ़ते जाते हैं। कुछ लोग इसे

धार्मिक उदारता हृदय की विशालता, सरलता आदि का जामा पहनाने का प्रयास करते हैं, जो ठीक नहीं हैं।

किसी की निन्दा न करना, टीका-टिप्पणी न करना, विवादस्थ विषयों को न छेड़ना जुदी बात है और सबको एकसा आदर-सम्मान देना या पूज्यभाव रखना बिल्कुल जुदी बात है। उदारता के नाम पर दोनों को एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। धर्म की श्रद्धा बिल्कुल व्यक्तिगत विषय है, इसमें सामाजिक व राष्ट्रीय एकता के सूत्र कतई बाधक नहीं है।

संशय मिथ्यादृष्टि सोचता है कि क्या पता कोई सर्वपदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाला सर्वज्ञ होता भी है या नहीं।

हिताहित की परीक्षा रहित परिणाम ही अज्ञान मिथ्यात्व है। जिसके ऐसे विचार हों कि स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष किसने देखा? पाप-पुण्य क्या चीज हैं? स्वर्ग-नरक सब कहने मात्र के हैं। धर्म भोले-भाले डरपोक लोगों को डराने-धमकाने व आतंकित करके, उन्हें ठगने का धंधा है। यह सोच अज्ञान मिथ्यात्व है।

पुण्य-पाप एवं धर्म-अधर्म से सर्वथा अनजान अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव इसप्रकार की बातें करके सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञ कथित तत्त्वों का ही निषेध करते हैं तथा पाँचों पापों एवं पाँचों इन्द्रियों के विषयों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं। भक्ष्य-अभक्ष्य का तथा नीति-अनीति का कुछ विवेक नहीं, देव-अदेव-कुदेव का कुछ भी निर्णय नहीं; ऐसा अज्ञानरूप अभिप्राय **अज्ञान मिथ्यात्व** है।

यह पाँचों प्रकार का मिथ्यात्व गृहीत भी होता है और अगृहीत भी। इसके वश घोर पाप होता है। अतः सर्वप्रथम आगम के अभ्यास से इस मिथ्यात्व का समूल नाश करना होगा, तभी सन्मार्ग मिल सकेगा।

(५१)

जरा सोचिये - जन्म से ही हम सबकी शक्ल एक-सी नहीं है, अक्ल भी एक-सी नहीं है, आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियाँ भी एक-सी नहीं है। एक बालक, राजशाही ठाठ-बाट में पैदा हुआ, चाँदी के पालने में

झूला, सोने की चम्मच मुँह में थी, दूसरा बालक फुटपाथ पर पैदा हुआ, भीख का कटोरा ही जीवनभर उसके हाथ में रहा। आखिर यह अन्तर क्यों?

उत्तर होगा - सबके परिणाम एक से नहीं होते। पुण्य-पाप का बंध एक-सा नहीं होता। जिसने पिछले जन्म में जैसे शुभ-अशुभ परिणाम किए तदनुसार उसके पुण्य-पाप का बंध हुआ। उसके फलस्वरूप ही यह विविधता पाई जाती है। यदि ऐसा नहीं होता तो जन्म से ही कोई सुखी व कोई दुःखी क्यों है? यदि पुनर्जन्म नहीं होता तो जन्म से ही व्यक्ति प्रतिभावान नहीं हो सकता था। जिसे लोक में ईश्वरीय देन कहा जाता है, गॉड गिफ्ट माना जाता है; वह सचमुच और कुछ नहीं, पूर्व जन्म के संस्कार ही हैं।

(५२)

जैनधर्म श्रद्धा एवं भावना प्रधान धर्म है। सम्यक् एवं मिथ्या श्रद्धा और शुभाशुभ भावों से ही धर्म-अधर्म एवं पुण्य-पाप होता है, बाह्य शारीरिक क्रियाओं से नहीं। पर बाहरी दैहिक क्रियायें भी अंतरंग भावों का ही अनुसरण करती हैं। यदि अन्दर आत्मा में क्रोध भाव है तो मुखाकृति पर भी क्रोध की रेखायें दिखाई देने लगती हैं, भृकुटी तन जाती है, आँखें लाल हो जाती हैं, ओष्ठ फड़कने लगते हैं और काया काँपने लगती है; पर ध्यान रहे, पापबन्ध अंतरंग आत्मा में हुए क्रोधभाव से ही होता है, बाह्य शारीरिक विकृति से नहीं। शारीरिक चिन्ह तो मात्र अंतरंग भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, उनसे पाप-पुण्य नहीं होता।

(५३)

अन्तरंग में जिनके पूर्ण समताभाव हो, वीतराग परिणति हो तो बाहर में उनकी परमशान्त मुद्रा ही दिखाई देगी। न हंसमुख न उदास। ऐसा ही सहज संबंध होता है अन्तरंग-बहिरंग भावों का। इसे ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी कहते हैं। इसलिये कहा जाता है कि भावना भवनाशनी - भावना भववर्धनी' अर्थात् भावों से ही भव अर्थात् संसार में जन्म-मरण के दुःख का नाश होता है और भावों से ही जन्म-मरण का दुःख बढ़ता है।

(५४)

पवित्र भावना से पूर्ण सावधानी पूर्वक डॉक्टर के द्वारा रोगी को बचाने के प्रयत्नों के बावजूद यदि ऑपरेशन की टेबल पर ही रोगी का प्राणांत हो जाता है तो डॉक्टर को दोषी नहीं माना जाता, हिंसाजनित पापबंध भी नहीं होता। वैसे ही चार हाथ आगे जमीन देखते हुए चलने पर भी यदि पैर के नीचे कोई सूक्ष्म जीव मर जाता है तो मुनिराज को भी हिंसा का किंचित् दोष नहीं लगता। अतः यह सिद्ध है कि - आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है तथा आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है।

(५५)

जैनदर्शन में पाप-पुण्य एवं धर्म-अधर्म जीवों के भावों एवं श्रद्धा पर निर्भर करता है। जिन कार्यों में जैसी श्रद्धा एवं भावनायें जुड़ी होंगी, कर्मफल उनके अनुसार ही प्राप्त होगा।

हिंसा-अहिंसा की भाँति झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि पापों के विषय में कहा है कि आत्मा के घातक होने से झूठ-चोरी-कुशील व परिग्रह पाप भी हिंसा में ही गर्भित हैं। आत्मघाती होने से ये भी हिंसा के ही विविध रूप हैं; जोकि महादुःखदाता होने से सर्वथा त्याज्य हैं; परन्तु पता नहीं, फिर भी लोगों ने इन्हें मनोरंजन का साधन क्यों समझ रखा है? शिकार जैसी संकल्पी हिंसा, कुशील जैसा अनर्थकारी पाप तथा जुआ और नशा जैसे दुर्व्यसनों को भी लोगों ने मनोरंजन का साधन समझ रखा है; यह आश्चर्य है।

(५६)

यह मिथ्यात्व आत्मारूपी घर के कोनों में चूहों की तरह कहाँ-कहाँ छुपा हुआ रहता है और तत्त्वज्ञान के महत्वपूर्ण दस्तावेजों को, संयम और सदाचार के कीमती कपड़ों को कुतरता रहता है।

(५७)

अपनी इस मिथ्यात्व से मैली, कषाय से कलुषित तथा राग से रंजित परिणति की हमें कुछ भी खबर नहीं है। सब 'अपनी-अपनी ढपली व अपने-अपने राग' अलापने में मस्त हैं, मदोन्मत्त है। किसी को भी यह परवाह नहीं है कि यदि इसी परिणति में हमारा मरण हो गया तो हम मरकर कहाँ जायेंगे? क्या गति होगी हमारी।

(५८)

शुभ और अशुभ दोनों ही परिणतियाँ अंध हैं और कर्मबन्ध की कारण हैं। एकमात्र वीतराग परिणति ही भव-समुद्र से तारने वाली तरणी है, संसार-सागर में गोते खाते प्राणियों को पार उतारने वाली नौका है।

(५९)

यद्यपि शुभ परिणति अशुभ की अपेक्षा अच्छी है, तभी तो उसका नाम शुभ है, परन्तु अशुभ परिणति की तरह वह शुभ परिणति भी भव-समुद्र को तारने के लिए 'तरणी' नहीं बन सकती; क्योंकि दोनों एक राग की ही धातु से निर्मित होती हैं, जिसका फल संसार है और वीतराग परिणति धर्मरूप है, जिसका फल मोक्ष है। अतः वीतराग परिणति को ही भव समुद्र तरणी कहा है।

हाँ, जितना योगदान लकड़ी की नौका बनाने में लोहे के कील-पुरजों का होता है, उतना योगदान वीतराग परिणति के साथ शुभराग का हो सकता है; पर नौका लकड़ी या काष्ठ की ही कहलाती है, लोहे की नहीं।



सुखी जीवन से ~

(१)

वृद्धावस्था की शारीरिक शिथिलता और पारिवारिक प्रतिकूलताओं की विषम परिस्थितियों में भी हमारा शेष जीवन निराकुलता के साथ सुख से व्यतीत हो सके। मानव जीवन का पावन और अन्तिम उद्देश्य जो समाधि, साधना और सिद्धि है, वह भी सफल हो सके, एतदर्थ हमें इस कृति में उल्लिखित दर्शनशास्त्र के मौलिक सिद्धान्त समझने होंगे।

(२)

हम सब सामाजिक प्राणी हैं। दिन-रात समाज के सम्पर्क में रहते हैं, इस कारण किसी न किसी रूप में समाज के साथ पारस्परिक सम्बन्ध तो होते ही हैं। वे सम्बन्ध हमारे स्वयं के मोह-राग-द्वेष एवं कषायों के कारण बनते-बिगड़ते भी रहते हैं। अतः मोह-राग-द्वेष को कम करने का उपाय जानने के लिए इस कृति को ध्यान से पढ़ें।

(३)

आज की दुनियाँ में खुले रूप में पाँचों पापों एवं सातों दुर्व्यसनों का ताण्डव नृत्य हो रहा है। विशेष दुःख तब होता है, जब ये पाप प्रवृत्तियाँ धर्म, उन्नति की आड़ में होती हैं, समाज सेवा और राष्ट्रोन्नति के नाम पर होती हैं।

(४)

आज भगवान राम और भगवान महावीर के धर्मप्राण देश में देवी-देवताओं की बलि और पीर-पैगम्बरों की कुर्बानी के नाम पर ऊँट, भैंसे और बकरों जैसे असंख्य पशुओं को निर्दयतापूर्वक मारा-काटा जाता है तथा माँस के बड़े-बड़े कत्लखाने चल रहे हैं। मुर्गे-मुर्गियाँ और मछलियाँ तो बेहिसाब मारी जा रही हैं। इस तरह दूध की जगह खून की नदियाँ बह रही हैं। मानवीय हिंसा के रूप में भी खुले आम भ्रूण हत्याएँ हो रही हैं। यह

सब देखकर भारी दुःख होता है, परन्तु जब कुएँ में ही भाँग पड़ी हो तो कोई क्या कर सकता है।

अन्त में यह सोचकर धैर्य धरना पड़ता है कि जिन मूक प्राणियों पर ये अत्याचार हो रहे हैं, इन्होंने दूसरों पर ऐसे ही अत्याचार किए होंगे, जिसका ये दुःखद फल इन्हें भोगना पड़ रहा है।

यदि हम चाहते हैं कि भविष्य में हमारे साथ ऐसा निर्दय व्यवहार न हो तो हम अपने स्वार्थ और स्वाद के लिए दूसरों के प्राणों को पीड़ित नहीं करें, उनकी हत्याएँ न करें न कराएँ। अन्यथा एक दिन वह आयेगा, जब हम भी बूचड़खानों में कटने वालों की कतार में खड़े होंगे।

(५)

संसार में जो आया है, उसे जाना तो पड़ता ही है; पर जाने के पहले यदि वह कुछ ऐसे काम करले, जिनसे स्व-पर कल्याण हो सके तथा अपने स्वरूप को जान ले, पहचान ले, उसी में जम जाये, रम जाये, समा जाये तो उसका जीवन धन्य हो जाता है, सार्थक हो जाता है, सफल हो जाता है।

(६)

सहशिक्षा के पक्ष-विपक्ष में बहुत बातें होती हैं। दोनों पक्षों द्वारा इसकी अच्छाई-बुराई और लाभ-हानि के नाना तर्क दिये जाते हैं; परन्तु जब कलयुगी छात्र-छात्राओं की कामुक-कमजोरियाँ देखते हैं तो पक्ष के सभी तर्क निरर्थक साबित होते दिखते हैं। सम्भ्रांत कुल के माता-पिता (पालक) भी अपने बालक-बालिकाओं की इस कमजोरी से घबराते हैं।

(७)

कोई कितना भी चिर-परिचित क्यों न हो? नजदीकी रिश्तेदार भी क्यों न हो और अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति ही क्यों न हो, नर-नारी को एकांत में रहना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि नारी को आचार्यों ने अंगार की उपमा दी है और नर को नवनीत (मक्खन) की उपमा दी है, जब इन दोनों

का सान्निध्य होगा तो जो हालत नवनीत की होती है, वही हालत नर की हो जायेगी। अतः मेरा तो दृढ़ निश्चय है कि किसी भी नर और नारी को एक साथ एकान्त में नहीं रहना चाहिए।

(८)

जिसका जिसमें अपनत्व हो जाता है, वह उसके लिए सर्वस्व समर्पण कर देता है। फिर दोनों का सुख-दुःख, उन्नति-अवनति एक हो जाती है। यदि किसी में भी कोई योग्यता की कमी दृष्टिगोचर हुई भी तो उसे दूर करने में दोनों के सम्मिलित प्रयास प्रारम्भ हो जाते हैं।

(९)

काम करते-करते थकावट अनुभव करने पर आटे में नमक की भाँति शुद्ध-सात्विक लौकिक कलाओं के द्वारा अपना उपयोग पलट कर विश्राम लेकर पुनः अपने प्रयोजनभूत काम को करने में ही हमारी भलाई है।

(१०)

प्रत्येक कल्याणकारी भला काम सबसे पहले हमें अपने घर से ही प्रारम्भ करना चाहिए। पहले पत्नी-पुत्र-पुत्रियाँ आदि परिजन, फिर अड़ौसी-पड़ौसी और पुरजन, उसके बाद शक्ति अनुसार जितना भी सम्भव हो सके देश-देशान्तरों में भी उस भले काम का प्रचार-प्रसार करना चाहिए।

(११)

घर-परिवार की मान-मर्यादाएँ तोड़ना और स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं है। क्या निहाल करती हैं वे लड़कियाँ जो अधिक आधुनिक बनकर स्वच्छन्द हो जाती हैं? अधिकांश तो अपने माता-पिता और समाज के लिये सरदर्द ही बनती हैं। भले और बड़े काम तो मान-मर्यादा में रहकर ही हो सकते हैं। जितने भी महापुरुष हुये हैं, महान नारियाँ हुई हैं; सभी एकदम साधारण भारतीय वेश-भूषा में ही रहते थे। सादा जीवन उच्च विचार मय जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है।

(१२)

दुःख की घड़ियाँ काटे नहीं कटतीं और सुख में समय बीतते देर नहीं लगती। सुखद वातावरण में बरसों का बीता समय परसों जैसा लगता है। अतः सुखद समय में अपने कल्याण का प्रयोजन साध लेना चाहिए।

(१३)

जीवन सुखी कैसे बने यह बात यदि कोई सिखा सकता है तो वह सन्तान की शुभचिन्तक माँ ही सिखा सकती है। एतदर्थ माँ का शिक्षित और संस्कारी होना अत्यावश्यक है।

(१४)

यह कहावत गलत नहीं है कि - 'दीवारों के भी कान होते हैं।' अतः ऐसी बात कहना ही नहीं चाहिए, जिस बात को किसी से छिपाने का विकल्प हो और प्रगट हो जाने का भय हो। जो भी बातें कहो, तौल-तौलकर कहो। ऐसा समझकर कहो, जिन्हें सारा जगत जाने तो भी कोई विकल्प न हो, भय न हो; बल्कि जितने अधिक लोग जाने, उतनी ही अधिक प्रसन्नता हो देखो, धनुष का बाण, बन्दूक की गोली और मुँह की बोली छूटने पर वापिस नहीं लौटती। अतः इनके प्रयोग में विवेक की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

(१५)

किसी का पिता प्रकाण्ड पण्डित है; किसी का पति नियमित सामूहिक स्वाध्याय/प्रवचन करके जिनवाणी रूप दीपक की ज्योति जला रहा है, फिर भी उसका पुत्र और पत्नी तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ रहें तो ऐसा पूछा जाना स्वाभाविक है कि - यह दिया तले अन्धेरा क्यों है?

(१६)

दूसरों के अच्छे-बुरे व्यवहार से हमें प्रभावित नहीं होना चाहिए। अन्यथा हमारा सुखी रहना या दुःखी होना, दूसरों के हाथ में चला जायेगा। फिर तो कोई भी व्यक्ति हमें कुछ भी कहकर कभी भी दुःखी कर देगा।

(१७)

जिनागम के अनुसार सभी जीव स्वभाव से तो पूर्ण स्वतंत्र व स्वावलम्बी हैं ही, पर्याय में भी सुखी होने के लिए उन्हें पर से अप्रभावी रहकर अपनी स्वतंत्रता व स्वाधीनता को ही पहिचानना है।

(१८)

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि - देह में लगे धनुष के बाणों की चुभन से हृदय में लगे व्यंग्य बाणों की चुभन अधिक पीड़ादायक होती है।

(१९)

जिनमन्दिर में धर्मकथा के सिवाय कोई यहाँ-वहाँ की बातें करना महान पापबन्ध का कारण है। यदि घर-गृहस्थी में या वाणिज्य-व्यापार में कोई पाप हो जाता है तो हम अपनी आलोचना करके मन्दिर में उसका प्रायश्चित्त कर लेते हैं; परन्तु जो मन्दिर में ही विकथा करके पाप करेगा तो उस पाप का वज्र-लेप होता है।

(२०)

जैसे ज्वर वालों को दूध भी कड़वा लगता है? वैसे ही जिसे अज्ञान का ज्वर चढ़ा हो, कषायों की तपन हो तो उसे सत्य भी कड़वा लगता ही है।

(२१)

जैनतत्त्व जितना सूक्ष्म है, उसे समझने के लिए अपने उपयोग को भी उतना ही सूक्ष्म-पैना करना आवश्यक है, अन्यथा बात माथे के ऊपर से ही निकल जाती है, कुछ हाथ नहीं लगता।

(२२)

प्रयोजनभूत जैन तत्त्वज्ञान ऐसा भारी-भरकम नहीं है; जिसकी साधना/आराधना में बहुत शक्ति व समय लगे। बस, रुचि पलटने भर की देर है, फिर तो सारा मुक्ति मार्ग अत्यन्त सरल व सहज हो जाता है।

(२३)

इन्द्र, सामाजिक, त्रायस्त्रिंश आदि देव भी छोटे-बड़े के भेदों के कारण होने वाले मानसिक दुःख से नहीं बच पाते। वे भी कषायजन्य हीन भावना से ग्रसित रहते हैं। इस कारण देवगति में भी सुख नहीं है।

(२४)

शारीरिक दुःख कैसा भी क्यों न हो, कितना भी अधिक हो; फिर भी व्यक्ति बर्दाश्त कर लेता है, सह लेता है; परन्तु मानसिक दुःख असह्य होता है, उसे व्यक्ति बर्दाश्त नहीं कर पाता। वह भयंकर भी होता है; क्योंकि वह अज्ञानजन्य व कषायजन्य ऐसी मानसिक विकृति है, जो जीवों को विवेक शून्य बना देती है। परिणामस्वरूप व्यक्ति आत्मघात तक कर लेता है।

शारीरिक पीड़ा से परेशान होकर शायद ही किसी ने आत्मघात किया हो, पर मानसिक दुःख से हुई आत्मघात की घटनायें आये दिन समाचार पत्रों में पढ़ने को मिल जायेंगी।

(२५)

वैसे तो जिनागम अगाध है; सम्पूर्ण जिनागम का अध्ययन करना और स्मरण रख पाना तो असंभव सा है; परन्तु प्रयोजनभूत वस्तुस्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तों का ज्ञान तो अति आवश्यक ही है। इसके बिना तो मोक्षमार्ग की साधना ही संभव नहीं है।

यदि हम वस्तु स्वातंत्र्य और कर्ता-कर्म जैसे मौलिक सिद्धान्तों को समझ लें तो फिर ऐसे प्रसंग ही नहीं बनेंगे, जिनके कारण इतने संक्लेश परिणाम हों कि किसी को आत्मघात करके मरना पड़े।

ध्यान रहे, संक्लेश परिणामों के साथ आत्मघात करने से दुर्लभ मानव जीवन का अंत तो हो ही जाता है, मर कर भी वे जीव उन उलझनों से मुक्त नहीं हो पाते, जिन कारणों से उन्होंने आत्मघात किया है। उन्हें नियम से ऐसी कुगति ही प्राप्त होती है, जिसमें उन्हें पहले से भी कई गुनी अधिक प्रतिकूलता प्राप्त होती है।

(२६)

जिस तरह बहुमूल्य रत्न यदि हाथ से छूटकर समुद्र के बीच गहरे पानी में गिर जाय तो फिर कभी हमारे हाथ नहीं लगता; उसीतरह यह दुर्लभ

मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, जिनवाणी के श्रवण का श्रेष्ठ अवसर यदि हमने यों ही खो दिया तो फिर यह सुअवसर हमें पुनः प्राप्त होने वाला नहीं है।

(२७)

बाह्यकारण तो निमित्त मात्र हैं; वस्तुतः तो अपना आध्यात्मिक अज्ञान ही अपने दुःख का मूल कारण है। अधिक अनुकूलता में भी तो उस अनुकूलता के प्रति तीव्रराग हो जाता है और उनमें अपने अज्ञान के कारण इष्ट बुद्धि तो है ही; उन इष्ट संयोगों का कभी वियोग न हो जाय - इस आशंका मात्र से हमें आकुलता होने लगती है।

(२८)

देवगति में जब मरण के छह माह पूर्व देवों के गले की माला मुरझाने लगती है तो मिथ्यादृष्टि देव अपना मरण निकट जानकर विलाप करने लगते हैं और परिणाम स्वरूप नियम से उनकी अधोगति ही होती है।

(२९)

जैनदर्शन का वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त ही इस मानसिक राजरोग से बचने का एकमात्र अमोघ उपाय है। यही आत्मज्ञान है, यही तत्त्वज्ञान है और यही सम्यग्ज्ञान की वह कला है, जो हमें सुखी जीवन जीना सिखाती है।

(३०)

वस्तुस्वातंत्र्य किसी धर्म विशेष या दर्शन विशेष की मात्र मानसिक उपज या किसी व्यक्ति विशेष का वैचारिक विकल्प मात्र नहीं है। बल्कि यह सम्पूर्ण भौतिक एवं जैविक जगत की अनादि-अनन्त, स्व-संचालित सृष्टि का स्वरूप है, ऑटोमैटिक विश्व-व्यवस्था है।

छह द्रव्यों को ही तो वस्तुत्वगुण की अपेक्षा वस्तु कहते हैं। और वस्तु की स्वतंत्रता को ही वस्तुस्वातंत्र्य कहते हैं।

(३१)

प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के गुण होते हैं - एक सामान्य और दूसरा विशेष। जो गुण सभी द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें सामान्य गुण कहते हैं। जैसे -

अस्तित्व गुण सब द्रव्यों में पाया जाता है। अतः यह सामान्य गुण हुआ। वस्तुत्वगुण भी उन्हीं सामान्य गुणों में से एक गुण है। जो गुण सब द्रव्यों में न रहकर अपने-अपने द्रव्यों में रहते हैं, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। जैसे - ज्ञान-दर्शन-गुण केवल आत्मा में ही होते हैं, अन्य पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश व कालद्रव्य में नहीं। अतः ये जीवद्रव्य के विशेष गुण हैं। इसी तरह पुद्गल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा धर्मद्रव्य में गति हेतुत्व, अधर्म द्रव्य में स्थिति हेतुत्व, आकाश द्रव्य में अवगाहन हेतुत्व और कालद्रव्य में परिणामन हेतुत्व इनके विशेष गुण हैं।

वैसे तो प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, सामान्य गुण भी अनेक हैं; परन्तु उनमें छह मुख्य हैं - अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व।

अस्तित्व गुण :- जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी भी अभाव नहीं होता उसे अस्तित्व गुण कहते हैं।

वस्तुत्व गुण :- जिस शक्ति के कारण द्रव्य में अर्थ क्रिया हो, प्रयोजनभूत क्रिया हो; उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं।

द्रव्यत्व गुण :- जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरन्तर बदलती रहे, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं।

प्रमेयत्व गुण :- जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय बने, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

अगुरुलघुत्व गुण :- जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपन कायम रहता है, एकद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता और द्रव्य में रहने वाले अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग नहीं होते, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।

आत्मा भी एक वस्तु है, उसमें भी प्रमेयत्व गुण है, अतः वह भी जाना जा सकता है। बस थोड़ा-सा पर व पर्याय पर से उपयोग हटाकर आत्मा की

ओर अन्तर्मुख करने की देर है कि समझ लो आत्मा का दर्शन हो गया।

लोक की यह वस्तु व्यवस्था भी बड़ी विचित्र है। सभी द्रव्यों में ये सामान्य गुण विद्यमान हैं, जो वस्तु के स्वतंत्र और स्वावलम्बी होने का उद्घोष कर रहे हैं।

(३२)

यद्यपि अपने में ऐसी कोई योग्यता नहीं है कि पर में कुछ किया जा सके; परन्तु यदि किसी की भली होनहार हो तो निमित्त तो बन ही सकते हैं; अतः भूमिका के विकल्पानुसार प्रयत्न करने में हानि भी क्या है?

(३३)

जिसप्रकार भूमि को कृषि के योग्य उपजाऊ बनाये बिना बीज बोना बीज की बर्बादी ही है; उसीप्रकार क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, आदि पञ्चलब्धियों से आत्मा की भूमि को सम्यक्त्व धारण के योग्य बनाये बिना धर्म के बीज बोने का प्रयत्न निष्फल है, समय व शक्ति की बर्बादी है।

आत्मा की भूमि में अल्पज्ञता की घास-फूस और तीव्रकषाय के कंकड़-पत्थरों के रहते धर्मोपदेश के महँगे बीज कैसे बोये जा सकते हैं? और धर्म के बीज बोये बिना सम्यक्त्वरूप धर्मवृक्ष की कल्पना भी कैसे की जा सकती है। अतः सम्यक्त्व के प्रगट होने के पूर्व क्रमशः उपर्युक्त पाँच लब्धियाँ होना अनिवार्य है। इनमें आदि की चार लब्धियाँ तो सामान्य हैं। ये लब्धियाँ भव्यों के तो हो ही जाती हैं, अभव्यों को भी हो जाती हैं; परन्तु इन चारों के होने पर भी सम्यक्त्व होने का कोई नियम नहीं है; जबकरणलब्धि होती है, तब ही सम्यक्त्व होता है।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य, देव, नारकी एवं तिर्यञ्च को आत्मा का स्वरूप समझने योग्य जो ज्ञान का क्षयोपशम है, बस वही क्षयोपशमलब्धि है। परिणामों की ऐसी निर्मलता एवं कषायों की ऐसी मन्दता, जिसमें जिनवाणी सुनने की रुचि हो, वह विशुद्धिलब्धि है तथा जिनवाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त होना देशनालब्धि है।

(३४)

सम्यग्दर्शन की पात्रता के लिये मात्र यही तो कहा है कि चारों गतियों का कोई भी जीव, जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो, गर्भज हो, पर्याप्तक हो, भव्य हो, मन्द कषायरूप विशुद्धता का धारक हो, साकार उपयोगी हो, जागृत हो। चाहे वह अनादि अगृहीत मिथ्यादृष्टि हो या सादि। जब क्षयोपशम, देशना, विशुद्धि लब्धियों द्वारा अपने परिणामों की निर्मलता बढ़ाते हुए क्रमशः ज्ञानावरणादि समस्त सर्वघाति कर्मों की स्थिति को घटाते-घटाते अन्तः कोडाकोड़ी सागर प्रमाण से भी कम कर लेता है, तब फिर वह एक मुहूर्त में मिथ्यात्व की अनुभाग शक्ति को भी घटा लेता है। इस प्रकार उसके सम्यग्दर्शन के योग्य क्षयोपशम, विशुद्धि व देशना तो है ही। बस, इसी दिशा में सक्रिय रहने से प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि की शर्त भी समय पर स्वतः पूरी हो जाती है और सम्यग्दर्शन हो जाता है।

(३५)

अरे! तुम तो वह हो, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन पर्याय तुम्हारे दर्शन करके कृतार्थ होती है। बस, तुम्हें तो मात्र स्वयं को जानना, स्वयं को पहचानना और स्वयं में ही जमना-रमना है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए तुम्हें इसके सिवाय और कुछ करना ही नहीं है।

सम्यग्दर्शन पर्याय स्वयं ही आत्मा के द्रव्यस्वभाव का वरण करेगी, आत्मद्रव्य को कुछ नहीं करना है, जो कुछ करेगी वह पर्याय ही करेगी।

(३६)

यह सम्यग्दर्शन चारों गतियों में होता है, तिर्यचों को भी होता ही है; और जिन्हें भी होता है, उन्हें ये पाँचों लब्धियाँ भी होती ही हैं? भले वे इनका नाम, स्वरूप एवं परिभाषायें नहीं जानते फिर भी उन्हें सम्यक्त्वप्राप्ति में कोई बाधा नहीं होती। बहुत से मनुष्य भी ऐसे हो सकते हैं, जो परिभाषायें नहीं बोल सकते; फिर भी सम्यग्दृष्टि होते हैं।

(३७)

श्रोता अनेक प्रकार के होते हैं - एक, वे जो देशना को सुनते तो हैं, पर मात्र सुनकर ही छोड़ देते हैं और अपने दूसरे कामों में लग जाते हैं। इस कारण सुना हुआ विषय उनकी धारणा में नहीं रहता।

दूसरे, कुछ श्रोता ऐसे होते हैं, जो ध्यान से सुन लेते हैं, धारणा में भी ले लेते हैं; परन्तु सुने हुये उपदेश पर विचारपूर्वक निर्णय ही नहीं करते। यदि करते भी हैं तो निर्णय करते समय निष्पक्ष नहीं रह पाते।

तीसरे, वे; जिन्हें जिस विचार से सच्चा निर्णय हो सकता है वह विचार मिथ्यात्व के जोर के कारण हो नहीं सकता। जिसका पक्षपात है, वही सच लगता है।

इन सबने जो तत्त्वोपदेश सुना, वह देशना तो हो सकती है; पर देशनालब्धि नहीं; क्योंकि वह देशना मात्र देशना बनकर ही रह गई, उपादान में तत्त्वज्ञान की कुछ भी उपलब्धि नहीं हो पाई। देशना मात्र निमित्तरूप होती है और देशनालब्धि उपादान में तत्समय की योग्यता रूप होती है।

प्रयोजनभूत बात को न केवल सुनना, बल्कि उसे समझना, उस पर विचार करना देशनालब्धि है।

(३८)

देशनालब्धि से जीव के विचार इतने विशुद्ध हो जाते हैं कि उसकी विशुद्धि से पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति कुछ हीन हो जाती है और नवीन कर्मों का बन्ध उत्तरोत्तर कम-कम स्थिति का होने लगता है। ऐसी धारा में प्रायोग्यलब्धि का अभ्युदय होता है।

जिनको क्षयोपशम, विशुद्धि व देशना - ये तीन लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, उनको प्रति समय विशुद्धता की वृद्धि होने से आयुर्कर्म के बिना सात कर्मों की स्थिति घटती जाती है। इस तरह जब पूर्व कर्मों की सत्ता अन्तः कोडाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बन्ध अन्तः कोडाकोड़ी प्रमाण के संख्यातवें भागमात्र हो, वह भी उस लब्धि काल से लगाकर

क्रमशः घटता जाये और कितनी ही पाप प्रकृतियों का बन्ध क्रमशः मिटता जाये - इत्यादि प्रकार से जो कर्मों के क्षीण होने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उसे प्रायोग्यलब्धि कहते हैं।

पाँचवीं लब्धि करणलब्धि है। इसके होने पर सम्यग्दर्शन होता ही है - ऐसा नियम है। जिसको पहले उपर्युक्त चार लब्धियाँ हुई हों और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् सम्यक्त्व होना हो, उसी के यह करणलब्धि होती है।

करण नाम तो परिणामों का है। क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना एवं प्रायोग्यलब्धि के कारण बढ़ते हुए आत्मा के जिन विशुद्ध परिणामों के द्वारा दर्शन मोह का उपशम होता है, उस विशेष परिणाम को 'करणलब्धि' कहा जाता है। इस करणलब्धिवाले जीव के बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल हो जाते हैं। इससे तत्त्वोपदेश का विचार ऐसा निर्मल होने लगता है कि जिससे उसको शीघ्र ही आत्मा का सम्यक् श्रद्धान हो जायेगा।

(३९)

करणलब्धि के अन्तर्गत तीन करण होते हैं - १. अद्यःप्रवृत्तकरण, २. अपूर्व करण और ३. अनिवृत्तिकरण ये तीनों करण अन्तर्मुहूर्त में हो जाते हैं। प्रत्येक करण का काल भी अन्तर्मुहूर्त है। इनमें अनिवृत्तिकरण का काल सबसे थोड़ा है। अनिवृत्तिकरण के काल से अपूर्वकरण का काल असंख्यात गुणा अधिक है। अपूर्वकरण के काल से अद्यःप्रवृत्तकरण का काल असंख्यात गुणा अधिक है।

ये करण प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पूर्व मिथ्यादृष्टि को भी होते हैं और कषायों के उपशमन व क्षपणा के लिये सातवें गुणस्थान से लेकर आठवें, नौवें गुणस्थान में भी होते हैं।

निष्कर्ष मात्र इतना है कि - प्रारंभ की तीन लब्धियाँ प्राप्त करने का सु-अवसर तो हमें प्राप्त हो ही गया है, प्रायोग्य और करणलब्धि भी अपने आत्माभिमुख पुरुषार्थ से हो सकती है; अतः इसमें शिथिलता न आने

पाये, अन्यथा यह दुर्लभ मनुष्यभव एवं तीनों लब्धियों की उपलब्धि निरर्थक ही चली जायेगी।

(४०)

अपनों के साथ जैसा अपनापन अपने स्वाभाविक व्यवहार और मातृभाषा बोलने में आता है; अपने बड़े-बूढ़े और बाल-बच्चों के बीच उन्हीं की टोन में, उन्हीं के लहजे में बातचीत करने में आता है, उनके सुख-दुःख में साथ देने एवं घर के कामकाज में हाथ बटाने में आता है; वह अपनत्व बनावटी व्यवहार में, कोरी औपचारिकता निभाने में और खिचड़ी बोली बोलने में कहाँ?

(४१)

अपने आपको एजूकेटेड और अपटूडेड समझने वाली पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित कुछ कॉलेजी लड़कियाँ और कामकाजी महिलायें अपने घर-परिवार और पड़ोस में भी अपनी अलग-थलग पहचान बनाने के लिए अपनी मातृभाषा में न बोलकर, सीधी-सादी हिन्दी बोलकर बीच-बीच में अनावश्यक अंग्रेजी के शब्द मिलाकर हिन्दी की चिन्दी तो करती ही हैं, बड़ी-बूढ़ी घरेलू महिलाओं के साथ घर के कामकाज में हाथ बटाने में हीन भावना का भी अनुभव करती हैं। भले गप-शप लड़ाने में घण्टों बर्बाद करती रहेंगी, पर घरेलू काम करने में समय की बर्बादी समझती हैं। आधुनिकता के व्यामोह में वे यह नहीं समझ पातीं कि ऐसा आचरण करके हम अनचाहे ही अपनों के बीच में रहकर भी भावनात्मक रूप में उनसे दूर होती जा रही हैं।

घर-परिवार की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता सम्भव है। जिस घर में कलह और क्लेश की ज्वाला जलती रहती हो, उसमें हम बिना झुलसे कैसे रह सकते हैं?

(४२)

जैनदर्शन केवल न जन-जन की स्वतंत्रता की बात कहता है, बल्कि यह तो कण-कण की स्वतंत्रता का उद्घोष करता है।

दो द्रव्य या दो वस्तुयें सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं, प्रदेशभेद वाली ही हैं। दोनों एक होकर एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करतीं और उनकी एक क्रिया नहीं होती। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाये।

एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते और दो द्रव्य मिल एकमेक नहीं करते तथा एक द्रव्य की दो क्रियायें नहीं होती; क्योंकि एक द्रव्य अनेकरूप नहीं होता। जो वस्तु जिस द्रव्य के रूप में और गुण के रूप में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य के रूप में तथा अन्य गुण के रूप में संक्रमित नहीं होती। और स्वयं अन्य रूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह अन्य वस्तु का परिणामन कैसे करा सकती है?

(४३)

यह आत्मा अमूल्य चैतन्य चिन्तामणि है। बस, इसे जानते-देखते रहो और आनन्द लेते रहो। मात्र यही करना है, इसके सिवाय कुछ नहीं करना है। यही आत्मा का स्वरूप है, काम है और यही आत्मा का धर्म है।

(४४)

अरहन्त व सिद्ध भगवान् वर्तमान में क्या करते हैं? कुछ भी नहीं; क्योंकि वे कृतकृत्य हैं। उन्हीं की तरह हमें-तुम्हें भी कुछ नहीं करना; क्योंकि हमारा आत्मा भी स्वभाव से कृतकृत्य ही है।

(४५)

जिनवाणी के अनुसार वस्तुस्वरूप की पूर्ण और अटल श्रद्धा होने पर भी जो जिस भूमिका में है, उसे उस जाति के विकल्प आये बिना नहीं रहते। यदि हम गृहस्थ हैं, किसी के माता-पिता हैं तो बाल-बच्चों के पालन-पोषण, पढ़ाने-लिखाने, योग्य मार्गदर्शन देने का भाव आये बिना नहीं रहता। भले हमें वस्तु स्वातन्त्र्य और उनके पुण्य-पाप पर पूर्ण भरोसा है। फिर भी पर्याय का स्वरूप ही ऐसा है कि - उस जाति के न केवल

विकल्प आयेंगे बल्कि ज्ञानी भी अज्ञानी की भाँति ही लड़-भिड़ कर और संघर्ष करके अपने उन विकल्पों को पूरा करने की कोशिश भी करेंगे।

यही कारण है कि वस्तुस्वातन्त्र्य पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाले ज्ञानियों की गृहस्थी बिगड़ती नहीं; बल्कि भूमिका का यथार्थ विवेक होने से उनकी मति तो व्यवस्थित हो ही जाती है तथा गृहस्थी भी और अधिक व्यवस्थित हो जाती है।

(४६)

धर्म तो आत्मा का स्वरूप है, निजरूप है, जो सहज ही होता है। धर्म करने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता; बल्कि जो कुछ अज्ञानदशा में कर रहे हैं; उल्टा उसे बन्द करना पड़ता है। वस्तुतः धर्म कुछ करने/कराने की वस्तु ही नहीं है। व्यक्ति शान्त तो जीवन भर रह सकता है; पर क्रोध लगातार आधा घण्टा भी नहीं कर सकता; क्योंकि शान्त रहना स्वभाव है और क्रोध करना विभाव/जीव विभाव में सदा नहीं रह सकता।

(४७)

वस्तुतः स्वप्न और कुछ नहीं, दिनभर जिस बारे में अपना जैसा अच्छा-बुरा सोच चलता रहता है, वही धीरे-धीरे अवचेतन मन में पहुँच जाता है और जब सोते समय मन-मस्तिष्क तनाव मुक्त शिथिल हो जाता है तो वही अवचेतन मन की बातें स्वप्न में साकार होने लगती हैं और धीरे-धीरे वह सब विषय संस्कार बनकर जनम-जनम के साथी बन जाते हैं। अतः हम दिन में सजग अवस्था में जितने अच्छे विचार रखेंगे उतने ही अच्छे स्वप्न हमें आयेंगे, जो कालान्तर में अच्छे संस्कारों में परिणत होकर हमारे कल्याण के कारण बनेंगे।

(४८)

जब व्यक्ति अनादि-अनन्त स्व-संचालित विश्व व्यवस्था और वस्तु स्वरूप समझकर सब ओर से निश्चिन्त, निर्भय-निर्भर और शोकमुक्त हो जाता है तो स्वभावतः वह प्रसन्न रहने लगता है। यह प्रसन्नता व्यक्ति के

सुखी जीवन के लिए बहुत बड़ा वरदान बनकर आती है। फिर वह न केवल मानसिक व्याधियों से मुक्त हो जाता है, दैहिक दुःखों से भी उसे बहुत कुछ छुटकारा मिल जाता है।

(४९)

अज्ञानजन्य कर्ताबुद्धि जिनके अन्तर में गहरे से बैठी हो, उन्हें अपने कर्तृत्व के बदले में और कुछ न मिले तो न सही; पर ढेर सारा धन्यवाद और प्रशंसा तो मिलना ही चाहिए। - ऐसे विचार रखने वाले लोग पैसे से अधिक प्रशंसा के भूखे होते हैं। इस मनोविज्ञान को न समझने वाले कुछ लोग प्रशंसा करने में कंजूसी करते हैं? पैसे से तो पेट की भूख मिटती है; पर साथ ही मानसिक खुराक के लिए प्रशंसा भी अनिवार्य है। इस मनोविज्ञान को समझने वाले लोक में सफल होते दिखते हैं परन्तु यह सुखी होने का सही उपाय नहीं है।

(५०)

जो होना है सो निश्चित है और जब होना है, वह भी निश्चित है। न हम किसी घटना को टाल सकते हैं, न आगे-पीछे ही कर सकते हैं, अतः पश्चाताप के आँसू बहाने से क्या? बस प्रायश्चित ही काफी है।

जीवन कैसे जिया जाय? इसकी विधि क्या है? इसका यथार्थ ज्ञान न होने से जिसप्रकार प्यासा मृग मरीचिका में ही जल के भ्रम से भटक-भटक कर प्राण खो देता है; उसीप्रकार यह मानव भी सच्चे सुख के भ्रम से सुखाभास में ही अपना अमूल्य मानव जीवन खो रहा है।

(५१)

सब इष्ट-अनिष्ट संयोग पुण्य-पाप के आधीन हैं, ऐसे उत्कृष्ट-पुण्य का योग धर्मात्माओं को ही होता है; क्योंकि वस्तुस्वरूप की सही समझ व श्रद्धा से सहज ही अन्तर की कषायें मन्द हो जाती हैं; विषयासक्ति भी कम हो जाती है, अतः सर्वप्रथम हमें उन सिद्धान्तों को समझना होगा, जो समता एवं वीतरागता बढ़ाने में सहायक हों।

(५२)

जिसप्रकार मणियों की माला मात्र देखने, पहिने और आनन्द लेने की वस्तु है; उसीतरह यह भगवान आत्मा अमूल्य चैतन्य-चिन्तामणि, केवल स्वयं को जानने-देखने, स्वयं में जमने-रमने और अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति करने योग्य परम पदार्थ है। बस, इसे ही जानते रहे और आनन्द लेते रहे।

(५३)

आत्मा में स्वयं का या पर का कुछ भी करने/कराने का विकल्प होना आत्मा के अकर्तृत्व स्वभाव के विरुद्ध होने से अधर्म है। तथा पर व पर्याय के कर्तृत्व के विकल्पों में आकुलता है, दुख है।

(५४)

जिन्होंने जैनकुल में जन्म लेकर, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य पाकर, जिनवाणी के श्रवण का सौभाग्य प्राप्त कर भी यदि जैनदर्शन के उन मूलभूत सिद्धान्तों को नहीं समझा जो साक्षात् वीतरागतावर्द्धक हैं, निराकुल सुख और परम शान्तिदायक हैं तो और सब कुछ जानकर भी उन सबके जीवन में अन्धकार ही अंधकार है।

(५५)

जगत में नाना प्रकार के जीव हैं, उनके कर्मोदय जन्य भाव अनेक प्रकार के हैं, उनकी लब्धियाँ, तज्जन्य जीवों की रुचियाँ एवं कषायों के प्रकार भी अनेक हैं; इसकारण सर्वजीव समान विचारों के होना असम्भव है। अतः परजीवों से उलझना तो उचित है ही नहीं; उनको समझा देने की आकुलता करना भी योग्य नहीं है। आत्मावलम्बन रूप निज हित में प्रमाद न हो - इस प्रकार रहना ही कर्तव्य है।

मोक्षाभिलाषियों को स्व-पर के साथ वचन विवाद में उलझना योग्य नहीं है। मौन से रहकर आत्मसाधना ही कर्तव्य है।

(५६)

बाल-बच्चों के प्रति बहु-बेटियों के प्रति, नौकरों के प्रति, पड़ोसियों के प्रति, पति-पत्नी और सास-ससुर आदि के प्रति भी जब कोई प्रतिकूलता का अनुभव हो तो आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा नियमसार गाथा १५६ में दिया उस मंगलमय सन्देश को जरूर याद रखना चाहिए; जो उन्होंने उपर्युक्त बोल में हमें विपरीत परिस्थितियों में न उलझने के लिए दिया है, यही हमारे सुखी जीवन का रहस्य है।

(५७)

आत्मार्थीजन अज्ञानीजनों के बारे में ऐसा विचार कर सन्तोष करते हैं कि इनकी वर्तमान ज्ञान पर्याय में समझ की ऐसी ही योग्यता है, सहनशीलता की इतनी ही शक्ति है, इनके शरीर की इतनी ही क्षमता है, इनकी कषाय परिणति की ऐसी ही विचित्र योग्यता है जिसके कारण ये इस खोटी प्रवृत्ति करने के लिये विवश हैं; इनके औदयिक व क्षयोपशमिक भाव ही इस जाति के हैं कि इस समय ये बेचारे न कुछ सीख सकते हैं, न कुछ समझ ही सकते हैं। और न इनके वर्तमान विभाव स्वभाव में किसी प्रकार के परिवर्तन की सम्भावना ही है; फिर हम इन पर दया करने के बजाय क्रोध क्यों करें?

(५८)

जैनदर्शन अकर्तावादी दर्शन है, इसके अनुसार विश्व की स्व-संचालित व्यवस्था छहों द्रव्यों के स्वतंत्र परिणामन एवं अपने-अपने पाँच समवायपूर्वक ही होती है। जिसद्रव्य की जो पर्याय जिस समय में जिसके द्वारा जैसी होनी है उसी द्रव्य की वही पर्याय उसी समय में उसी के द्वारा वैसी ही होती है। उसमें कोई फेरफार सम्भव नहीं है। उसमें एक समय भी आगे-पीछे नहीं हो सकता।

जैनदर्शन को चाहे अकर्तावादी कहो या स्व-कर्तावादी कहो या सहजकर्तावादी कहो - सबका एक यही अर्थ है कि - यह दर्शन परद्रव्यों का कर्ता तो है ही नहीं, उनमें फेरफार का कर्ता भी नहीं है।

अकर्तावाद का व्यापक अर्थ तो यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है। यहाँ तक कि - अपनी क्रमनियमित पर्यायों में भी वह किसी प्रकार का फेरफार नहीं कर सकता, उन्हें क्षेत्र से क्षेत्रान्तर एवं अपने-अपने स्व-काल से आगे-पीछे भी नहीं कर सकता।

(५९)

कार्य की उत्पादक सामग्री को कारण या समवाय कहते हैं। कार्य के पूर्व जिसका सद्भाव नियत हो और जो किसी विशिष्ट कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य को उत्पन्न न करे; उसे कारण या समवाय कहते हैं। वे पाँच हैं - १. स्वभाव २. पुरुषार्थ ३. नियति या होनहार ४. स्व-काल एवं ५. निमित्त। जीव के सुख व दुःख रूप कार्य के पाँचों समवाय निम्न प्रकार है -

स्वभाव - सुख या दुःखरूप कार्य जीवद्रव्य में ही होता है, पुद्गल में नहीं; क्योंकि पुद्गल में तो सुखी-दुःखी होने का कोई गुण ही नहीं है, जो सुख-दुःखरूप परिणमों। इस प्रकार सुख-दुःखरूप कार्य का प्रथम समवाय जीव का सुख स्वभाव है।

पुरुषार्थ - वह सुख या दुःखरूप कार्य कार्य के अनुकूल प्रयत्न पूर्वक ही होता है। अपने स्वभाव के अनुकूल क्षमा अदि भावरूप प्रयत्न करेगा तो सुख होगा और स्वभाव के प्रतिकूल क्रोधादि रूप प्रयत्न (उद्यम) करेगा तो दुःख होगा; क्योंकि स्वभाव के प्रतिकूल कारण ही दुःख कार्य के अनुकूल होते हैं। बस यही पुरुषार्थ सुख या दुःखरूप कार्य का दूसरा समवाय है।

नियति - जीवों को जो सुख या दुःख होना उनकी नियति में है, वही होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि - उन्हें तो सुखी होना था, किन्तु अचानक दुःख के निमित्त कारण मिल गये इससे सुखी होने के बजाय वे दुःखी हो गये। वस्तुतः निमित्तरूप परद्रव्य सुख-दुःख के कारण नहीं होते।

स्वकाल - वह सुख या दुःख जीव को जब होना होता है, तभी होता है। उन सुख-दुःख के क्षणों को कोई आगे-पीछे नहीं कर सकता है, न समय से पहले ला सकता है और न समय से आगे बढ़ा सकता है।

निमित्त – जो पदार्थ स्वयं तो कार्यरूप परिणत न हो; परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने से जिस पर कारणपने का आरोप आता है, उसे निमित्त समवाय कहते हैं।

सुख के अनुकूल अन्तरंग कारण तो पुण्य का उदय एवं बहिरंग कारणों में अनुकूल स्त्री-पुत्र, धन्य-धान्य आदि की उपस्थिति निमित्त नामक पाँचवाँ समवाय है।

(६०)

परद्रव्यों में स्वेच्छानुसार परिवर्तन करने के मिथ्या अहंकार में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है। अरहन्त भगवान भी जगत के ज्ञाता-दृष्टा ही है, कर्ता-भोक्ता नहीं हैं तो क्या इससे उनका अनन्त पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है? नहीं, कदापि नहीं; तीर्थकर भगवान का अनन्त पुरुषार्थ निज में है, निज के लिये है; पर में कुछ भी परिवर्तन करे – ऐसी शक्ति तो अनन्त वीर्य के धनी परमात्मा में भी नहीं है। अन्यथा प्रत्येक परमाणु की स्वतंत्रता के सिद्धान्त पर प्रश्न चिन्ह लगता है।

पुरुषार्थ जीव के वीर्य गुण की पर्याय है, इसलिए जीव के पुरुषार्थ का अस्तित्व जीव में ही होता है। अरहन्त भगवान अपने अनन्त वीर्य के द्वारा अपने अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त भोगों का उपभोग करते हैं; परन्तु वे पर में कुछ भी नहीं करते। पर में कोई कुछ करे – ऐसी सामर्थ्य वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है। अतः पर में पुरुषार्थ करने का प्रश्न ही नहीं होता।

(६१)

प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें नियत क्रम से होती हैं; इसका आशय यह है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थ पूर्वक जैसी होनी है; उस द्रव्य की वह पर्याय, उसी काल में उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थ पूर्वक, वैसी ही होती है, अन्यथा नहीं; क्योंकि कार्य के सम्पादन में पाँचों समवाय एक साथ होते हैं।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१, ३२२ एवं ३२३ में साफ-

(५४)

साफ लिखा है कि – जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है; उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र तक नहीं टाल सकते।

जिसे जहाँ, जिस कारण से, जो वस्तु प्राप्त होनी होती है; उसे वहाँ, उसी कारण से वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है।

वस्तु का स्वभाव तो पूर्ण व्यवस्थित होता ही है; उसका विभाव स्वभाव भी पूर्ण व्यवस्थित एवं अपने पाँचों समवायों पूर्वक ही होता है।

(६२)

पाँच समवायों में निमित्त भी एक ऐसा समवाय है, जो पर के कार्यों में अकिञ्चित्कर होते हुये भी पर में कर्तृत्व का भ्रम उत्पन्न करता है; क्योंकि कार्य निष्पन्न होने में उसका भी घना सम्बन्ध है।

निमित्त पर के परिणामों या कार्यों का उत्पादक नहीं है; कार्योत्पत्ति में उसका तो मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

योद्धाओं के द्वारा युद्ध किए जाने पर राजा ने युद्ध किया – ऐसा लोक-व्यवहार में कहते हैं, उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किया – ऐसा भी व्यवहार से कहा जाता है। समयसार कलश २०० में भी लिखा है –

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।

कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे, तत्कर्तृता कुतः ॥

इसका अर्थ यह है कि परद्रव्य का और आत्मद्रव्य का परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसप्रकार कर्तृ-कर्मत्व सम्बन्ध के अभाव में आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है?

(६३)

सुख-दुःख जीव के कार्य हैं; क्योंकि वे जीव के सुख गुण के विभाव परिणाम हैं तथा वे शुभ-अशुभ कर्मों के निमित्त से होते हैं।

जिस सुख को हमने विभाव कहा है, वह इन्द्रियजनित सांसारिक सुख की बात है; जो है तो वास्तव में सुखाभास ही, परन्तु लोक में उसे भी सुख संज्ञा प्राप्त है। वह सांसारिक सुख पुण्य के उदय का फल है।

(६४)

अनादिकाल से यह अज्ञानी जगत अपने सुख-दुःख का कर्तृत्व बाह्य निमित्त कारणों को ही मानकर उन पर ही दोषारोपण करके उनसे राग-द्वेष करता रहा है। इन्हें ही अपने भले-बुरे का कर्ता मानकर निरन्तर उनमें इष्टानिष्ट कल्पनाएँ करके राग-द्वेष की आग में जलता-भुनता रहा है।

वस्तुतः ये बाह्य संयोग तेरे दुःख के कारण नहीं हैं। तेरे सुख-दुःख के कारण तो तेरे द्वारा किए गये पुण्य-पाप कर्म हैं। इसतरह बाह्य संयोगों पर से दृष्टि हटवाकर अन्तरंग निमित्त कारणों पर लाये हैं; ताकि आमने-सामने की सीधी लड़ाई तो समाप्त हो एवं परिजनों-पुरजनों पर से राग-द्वेष भी कम हो।

(६५)

जब-जब भी जीवों को क्रोधादि कषायें और पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगने के भाव उत्पन्न होते हैं तो उनके निमित्त के रूप में हम अज्ञानीजन कोई बाह्य वस्तुओं को अथवा अपने मित्र-शत्रु, कुटुम्ब-परिवार, पड़ोसी एवं धंधे-व्यापार और राजकाज के सम्पर्क में आये व्यक्तियों को उसका कारण मानते हैं, क्योंकि निमित्त रूप में वे ही अपने आमने-सामने रहते हैं; इस कारण उन्हें देख-देख हम राग-द्वेष की ज्वाला में, क्रोधाम्नि में जलते रहते हैं तथा बदले की भावना से ओत-प्रोत होकर निरन्तर आकुल-व्याकुल होते रहते हैं; जो भविष्य में भी अनन्त दुःख एवं कुगति के कारण बनते हैं।

जो विवेकी हैं, तत्त्वज्ञानी हैं; वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह क्रोधावेश तो क्षणिक विकारी पर्याय है, और अपने ही अज्ञान से हुई है।

यदि पर के द्वारा सुख-दुःख दिये जाते हों तो स्वयंकृत पुण्य-पाप सब निरर्थक सिद्ध होंगे। अतः परपदार्थों पर राग-द्वेष न करो।

(५५)

वस्तुतः निमित्तरूप पर पदार्थ किसी भी पर के कार्य का वास्तविक कारण नहीं है। उसकी तो उपस्थिति होने के कारण व्यवहार से उसे कार्य का उपचरित कारण कहा जाता है।

(६६)

वस्तु जैसी होती है, वैसी दिखती नहीं; जैसी दिखती है, वैसी परिणमती नहीं। वस्तु है स्वतंत्र, स्वाधीन और दिखती है परतंत्र, पराधीन, निमित्ताधीन। वस्तु दिखती है निमित्ताधीन और परिणमित होती है स्वाधीन अपने-अपने स्वकाल में अपने स्व-चतुष्टय से।

(६७)

पानी शीतल क्यों है? अग्नि उष्ण क्यों हैं? यदि कोई यह पूछे तो इसका एक यही उत्तर होगा कि - इनका स्वभाव ही ऐसा है। इसमें क्यों/कैसे का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसीप्रकार प्रत्येक वस्तु पर से ऐसी निरपेक्ष है और स्वयं में ऐसी परिपूर्ण है कि - उसे कार्यरूप परिणत होने के लिए किसी पर के सहयोग की किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं होती।

दो द्रव्यों में सहज निमित्त-नैमित्तिक स्वतंत्र सम्बन्ध अति घने होते हैं, इस कारण वे पराधीन से प्रतीत होते हैं, परतंत्र दिखाई देते हैं; जबकि दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवार होती है, इसकारण द्रव्यों में एक-दूसरे का सहयोग करना सम्भव ही नहीं होता।

(६८)

तत्त्वज्ञानी ऐसा जानते हैं कि दवा एवं रोग के बीच अन्योन्याभाव है तथा स्व-समय में ही रोग ठीक होगा; फिर भी उन्हें उनकी भूमिकानुसार रोगोपचार हेतु अनुकूल औषधि आदि निमित्त मिलाने का भाव भी सहज ही आता है। जिनके उपादान में स्वस्थ होने का समय आ जाता है, उन्हें बाहर में अनुकूल दवा का एवं योग्य डॉक्टर का निमित्त मिल जाता है तथा अंतरंग निमित्त कारण के रूप में वैसा ही पुण्योदय का योग बन जाता है तथा जिनका निरोग होने का स्वकाल नहीं आता - उनको वही दवा निरर्थक होती देखी जाती है।

(६९)

जिस सिद्धान्त का सही ज्ञान हो जाता है, सही श्रद्धान हो जाता है, वह बारम्बार विचारों में आने लगता है, चिन्तन की प्रक्रिया में भी चढ़ जाता है; परिणाम यह होता है कि - उसका परिणमन भी धीरे-धीरे वैसा ही होने लगता है।

जब यह ज्ञान और श्रद्धान हो गया है कि - सम्पूर्ण परद्रव्य अन्य परद्रव्यों के लिए अकिञ्चित्कर है तो फिर आत्मा का ज्ञानोपयोग उन निमित्तरूप परद्रव्यों में अटकेगा ही क्यों? कदाचित् पूर्व संस्कारवश या पुरुषार्थ की कमी के कारण उपयोग बर्हिमुखी होगा भी तो श्रद्धा-ज्ञान सही होने से धीरे-धीरे पर कर्तृत्व के संस्कार भी ढीले पड़ेंगे ही।

(७०)

वस्तुतः देखा जाय तो हमें वर या कन्या चुनने का अधिकार ही नहीं है। हम तो व्यर्थ की चिन्ता में दुबले हुये जा रहे हैं। जिन्हें सर्वज्ञ में श्रद्धा और सर्वज्ञ की वाणी में विश्वास होता है, उनकी आकुलता नियम से कम होती ही है; क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान और वाणी के अनुसार जब उनके संयोग सम्बन्ध का समय आता है, तब अन्य कारण कलाप भी सहज मिलते चले जाते हैं और सम्बन्ध हो जाते हैं।

जब हमने माता-पिता, भाई-बहिनें एवं पुत्र-पुत्रियों को चुना नहीं; जैसे मिल गये; उन्हें सहज स्वीकार कर लिये। वैसे ही वर-कन्या को भी सहज स्वीकार क्यों नहीं कर लेते? यहाँ मीन-मेख क्यों करते हैं?

(७१)

जिसप्रकार स्व की अपेक्षा भाव (अस्तित्व) वस्तु का धर्म है, वस्तु का स्वरूप है; उसी प्रकार पर की अपेक्षा अभाव (नास्तित्व) भी वस्तु का धर्म है, वस्तु का स्वरूप है। इहलौकिक और पारलौकिक जीवन को सुखद बनाने में जितना योगदान वस्तुस्वातंत्र्य सिद्धान्त का है, वैसा ही महत्त्वपूर्ण योगदान चार अभावों का है।

(७२)

विश्व में या लोक में जो भी द्रव्यगुण या पर्याय के रूप में पदार्थ विद्यमान हैं, वे सभी अपने आप में परिपूर्ण हैं और पूर्ण स्वतंत्र हैं। एक वस्तु में दूसरी वस्तु कभी नहीं मिलती। ऐसी पर के निषेधरूप सामर्थ्य प्रत्येक द्रव्य, गुण व पर्याय में अस्तिरूप से विद्यमान है; उसे ही यहाँ 'अभाव' नाम से कहा है। ये अभाव मूलतः चार प्रकार के होते हैं - १. प्रागभाव, २. प्रध्वंसाभाव, ३. अन्योन्याभाव एवं (४) अत्यन्ताभाव।

प्रागभाव - वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव प्रागभाव है। जैसे कि वर्तमान दही पर्याय का दूध में अभाव प्रागभाव है।

प्रध्वंसाभाव - वर्तमान पर्याय का आगामी पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है। जैसे कि छाछ में वर्तमान दही पर्याय का अभाव प्रध्वंसाभाव है।

अन्योन्याभाव - एक पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय का अभाव अन्योन्याभाव है। जैसे कि - शिकंजी में नींबू की वर्तमान खटास का उसमें एकमेक रूप मिली चीनी की वर्तमान मिठास में अभाव है।

अत्यन्ताभाव - एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव अत्यन्ताभाव है। जैसे कि - जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य में परस्पर अत्यन्ताभाव है।

इन अभावों के समझने का लाभ यह है कि - 'दूसरा मेरा बुरा कर देगा' - हमारे अन्दर से ऐसा अनन्त भय निकल जाता है। 'दूसरा मेरा भला कर देगा' - ऐसी परमुखापेक्षिता की वृत्ति निकल जाती है। तथा मैं दूसरों का भला कर सकता हूँ - इस मिथ्या मान्यता से होने वाला अहंकार का अभाव होता है तथा मैं दूसरों का बुरा कर सकता हूँ, इस मान्यता से होने वाले क्रोध भाव का भी अभाव होता है।

अन्योन्याभाव के ज्ञान से भी स्वाधीनता का भाव जागृत होता है; क्योंकि जब एक पुद्गल की पर्याय, दूसरे पुद्गल की पर्याय से पूर्ण भिन्न एवं स्वतंत्र है तो फिर आत्मा से तो जुदी है ही।

चारों अभावों के समझने से पूर्ण स्वाधीनता का भाव जागृत हो जाता है, परद्रव्यों से सभी प्रकार की आशा की चाह समाप्त हो जाती है। इसकारण न दीनता-हीनता का भाव रहता है और न भय एवं आशा ही रहती है।

(७३)

समाधि और 'समाधि-मरण' दोनों बिल्कुल अलग-अलग विषय हैं। जब समाधि की बात चले तो उसे 'मरण' से न जोड़ा जाये; क्योंकि दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। समाधि यदि वृक्ष है तो समाधिमरण उसका फल है। समाधिमरण के समय तो समाधिरूप वृक्ष में लगे समता के फल खाये जाते हैं।

समाधि तो हमारा जीवन है, सुखी जीवन का नाम ही तो समाधि है, यह मृत्यु का सन्देश नहीं है। ऐसा सुखी जीवन जीने की कला का ज्ञान और उसका अभ्यास तो जीवन के मध्याह्न में ही करना होगा, यौवन में ही करना होगा; तभी तो हमें अन्त समय में सुख, शान्ति व समता के फल प्राप्त हो सकेंगे।

जो अपने जीवन के मध्याह्न में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्रीतिपूर्वक अपनायेंगे, अपने ज्ञायक स्वभाव का आश्रय करेंगे, उससे भ्रष्ट नहीं होंगे; वे ही समाधि के सुखद फल प्राप्त करेंगे।

साम्यभावों से निष्कषाय भावों से, निराकुलता से समतापूर्वक सुखी जीवन जीने को ही 'समाधि' कहते हैं।

(७४)

जिन्होंने अपना जीवन तत्त्वज्ञान के बल पर भेद-विज्ञान के अभ्यास से निज आत्मा की शरण लेकर समाधिपूर्वक जिया हो, निष्कषाय भावों से, शान्त परिणामों से जीवन जिया हो और मृत्यु के क्षणों में देहादि से ममता त्यागकर समतापूर्वक देह त्यागने का संकल्प लिया हो, उनके उस देह त्यागने की क्रिया-प्रक्रिया को ही समाधि-मरण या मृत्यु महोत्सव कहते हैं।

(७५)

तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ अज्ञानीजनों के पास लौकिक सुखाभासों की एकलम्बी लिस्ट होती है, जिनकी पूर्ति का वे जीवनभर असफल प्रयास करते रहते हैं; परन्तु उनकी इच्छानुसार इनकी न कभी पूर्ति हुई है, न होने की सम्भावना ही है। कदाचित् भाग्योदय से पूर्ति हो भी जाय तो भी जब वे संयोग स्वयं सुख स्वरूप एवं सुखदाता हैं ही नहीं तो उनकी पूर्ति से जीवन सुखी होगा कैसे?

(७६)

दुःख का लक्षण आकुलता है और आकुलता इच्छा होने पर होती है। इन संसारी जीवों के अनेक प्रकार की इच्छाएँ पायी जाती हैं, जिनकी पूर्ति त्रिकाल सम्भव नहीं है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल ने चार प्रकार की इच्छाओं का कथन किया है -

पाँचों इन्द्रियों के विषय-ग्रहण की इच्छा :- इसके सद्भाव में जब तक विषय सामग्री न मिले; तब तक मन व्याकुल रहता है।

कषाय भावों के अनुसार कार्य करने की इच्छा :- इसके सद्भाव में जब तक कषायवश किसी का भला-बुरा करने की इच्छा पूर्ण न हो, तब तक यह जीव दुःखी व्याकुल रहता है।

पापोदयजन्य इच्छा :- पापोदय-जन्य प्राकृतिक/अप्राकृतिक रोगों एवं क्षुधा-तृषा आदि की पीड़ा होने पर उन्हें दूर करने की इच्छा पापोदयजन्य इच्छा है।

पुण्योदयजन्य इच्छा :- इस इच्छा से नाना भोग-सामग्री एक साथ मिल भी जाय; परन्तु उन्हें एक साथ भोगना सम्भव नहीं होता। अतः हापडे मारता है और महादुःखी रहता है।

प्राणियों का आशारूप गढ़वा इतना बड़ा है, जिसमें समस्त विश्व का वैभव 'ऊँट के मुँह में जीरे' की भाँति अत्यल्प है, अणु मात्र है। जरा सोचो तो सही कि यदि बँटवारा करें तो किसे क्या मिलेगा? अतः विषयेच्छा व्यर्थ है।

(७७)

लोक में जितने भी जीव हैं, जीवन तो सभी जीते ही हैं; पर वह जीवन वस्तुतः जीवन ही नहीं है जो मर-मर कर जिया जाय मरण तुल्य मानसिक और शारीरिक वेदना को भोगते हुए जिया जाय। क्या वह जीवन भी कोई जीवन है जो दिन-रात रोते-रोते बीते? दुःख के अथाह सागर में डूबे-डूबे बीते? जिन्होंने संसार के दुःखों में ही सुख की कल्पना कर ली हो, जो सांसारिक दुःखों को ही सुख समझ बैठे हों; उन्हें सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

जिन्हें निराकुल सुख की पहिचान ही नहीं हो, जिन्हें सुखी जीवन की कला ही नहीं आती हो, भला वे सुखी जीवन कैसे जी सकते हैं?

जहाँ भी आगम में समाधि की चर्चा आई है, उसे जीवन साधना, आत्मा की आराधना और ध्यान आदि निर्विकल्प भावों से ही जोड़ा है। अतः समाधि का अर्थ शेष जीवन को निष्कषाय भाव से समतापूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द व आत्मानुभूति के साथ जीना, जो सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा के आश्रय से होता है।

(७८)

जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त-वस्तुस्वातंत्र्य, अकर्तावाद, चार अभाव, पाँच समवाय, छह द्रव्य, छह सामान्य गुण एवं षट्कारक आदि जिनकी संक्षिप्त चर्चा यथा स्थान आ चुकी है, समय-समय पर अपनी सुविधानुसार उनकी पुनरावृत्ति अवश्य करते रहना चाहिए; क्योंकि वस्तुतः यही वीतरागता प्राप्त करने का विज्ञान है, यही सुखी जीवन जीने की कला है।

जिन्होंने वस्तुस्वातंत्र्य और अकर्तृत्व जैसे सिद्धान्तों को समझकर अपना जीवन समता और समाधिपूर्वक निराकुल सुख से जिया हो, उनका मरण भी समाधिपूर्वक ही होता है, समतापूर्वक ही होता है।

वस्तुतः आधि-व्याधि एवं उपाधि से रहित आत्मा के निर्मल परिणामों का नाम ही समाधि है।

आधि - मानसिक रोग, क्रोधादि विकारीभाव। व्याधि - शारीरिक रोग और उपाधि - परकृत उपद्रव या कर्तृत्व का अहंकार बढ़ाने वाली दूसरों द्वारा प्रदत्त यशवर्द्धक उपाधियाँ आदि।

जो इन तीनों आपदाओं से अप्रभावित रहते हैं, इनसे जिनका चित्त आन्दोलित नहीं होता; वे ही समाधि की साधना में सफल होते हैं।

जिसने जीवन में कभी निराकुल सुख का अनुभव ही न किया हो, जिन्हें जीवन भर मुख्यरूप से आर्तध्यान व रौद्रध्यान ही रहा हो; उनका मरण कभी नहीं सुधर सकता। जब उनका जीवन ही समाधि सम्पन्न नहीं हो पाया तो उनका मरण समाधिपूर्वक कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

(७९)

आगम के अनुसार जिसका आयुबन्ध जिसप्रकार के विशुद्ध या संक्लेश परिणामों में होता है, उसका मरण भी वैसे ही परिणामों में होता है। अतः ऐसा कहा जाता है कि जैसी गति वैसी मति। अतः यदि कुगति में जाना पसन्द न हो तो मति को सुमति बनाना एवं विचारों को व्यवस्थित करना आवश्यक है।

(८०)

मृत्यु को महोत्सव बनानेवाला मरणोन्मुख व्यक्ति जीवन भर के तत्त्वाभ्यास के बल पर मानसिक रूप से अपने आत्मा को अजर-अमर, अनादि-अनन्त, नित्य विज्ञान घन व अतीन्द्रिय-आनन्द स्वरूप ही अनुभव करता है, आत्मा के त्रैकालिक स्वरूप के चिन्तन-मनन द्वारा तथा देह से देहान्तर होने की क्रिया को सहज भाव से स्वीकार करके चिर विदाई के लिए तैयार हो जाता है। साथ ही चिर विदाई देने वाले कुटुम्ब-परिवार के विवेकी व्यक्ति भी बाहर से वैसा ही वैराग्यप्रद वातावरण बनाते हैं, तब कहीं वह मृत्यु महोत्सव बन पाती है।

कभी-कभी अज्ञानवश मोह में मूर्च्छित हो परिजन-पुरजन अपने प्रियजनों को मरणासन्न देखकर या उनके मरण की सम्भावना से ही रोने

लगते हैं। इससे मरणासन्न व्यक्ति यदि भावुक हुआ या अन्तर्मुखी पुरुषार्थ में कमजोर हुआ तो उसके परिणामों में संक्लेश होने की संभावना बढ़ जाती है। अतः ऐसे वातावरण से उसे दूर ही रखना चाहिए।

(८१)

यद्यपि संन्यास, समाधि व सल्लेखना एक पर्याय के रूप में ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु संन्यास समाधि की पृष्ठभूमि है, पात्रता है। संन्यास, संसार, शरीर व भोगों से विरक्तता है और समाधि समता भाव या कषाय रहित शान्त परिणामों का नाम है तथा सल्लेखना जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो दो शब्दों से मिलकर बना है - सत् + लेखना = सल्लेखना। इसका अर्थ होता है - सम्यक्प्रकार से काय व कषायों को कृश करना।

(८२)

जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा अथवा असाध्य रोग आदि ऐसी अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण धर्म साधना आत्म-आराधना एवं व्रतादि का पालन करना सम्भव न रहे तो आत्मा के आश्रय से कषायों को कृश करते हुए अनशनदि तपों द्वारा काय को भी कृश करके धर्मरक्षार्थ मरण को वरण करने का नाम सल्लेखना है। इसे ही मृत्यु महोत्सव कहते हैं।

(८३)

आत्मा की अमरता से अनभिज्ञ अज्ञानों की दृष्टि में 'मरण' सर्वाधिक दुःखद, अप्रिय, अनिष्ट व अशुभ प्रसंग के रूप में ही मान्य रहा है। उनके लिए मरण एक ऐसी अनहोनी अघट घटना है, जिसकी कल्पनामात्र से उनका कलेजा काँपने लगता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, हाथ-पाँव फूलने लगते हैं। उन्हें ऐसा लगने लगता है, मानो उन पर कोई ऐसा अप्रत्याशित अनभ्र वज्रपात होने वाला है जो उनका अस्तित्व ही समाप्त कर देगा। ऐसी स्थिति में उनका मरण 'समाधिमरण' में परिणत कैसे हो सकता है।

(८४)

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि व अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के मृत्युभय में जमीन आसमान का अन्तर होता है; क्योंकि उनकी श्रद्धा में महान अन्तर होता है।

जहाँ स्व-पर के भेदज्ञान से शून्य अज्ञानी मरणकाल में अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से नरकादि गतियों में जाकर असीम दुःख भोगता है, वहीं ज्ञानी मरणकाल में वस्तुस्वरूप के चिन्तन से साम्यभावपूर्वक देह विसर्जित करके मरण को समाधिमरण में एवं मृत्यु को महोत्सव में परिणत कर उच्च गति प्राप्त करता है।

(८५)

यदि दूरदृष्टि से विचार किया जाय तो मृत्यु जैसा मित्र अन्य कोई नहीं है, जो जीवों को जीर्ण-शीर्ण-जर्जर तनरूप कारागृह से निकाल कर दिव्य देहरूप देवालय में पहुँचा देता है।

(८६)

अरे। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो मृत्यु कोई गम्भीर समस्या ही नहीं है; क्योंकि उसे मृत्यु में अपना सर्वस्व नष्ट होता प्रतीत नहीं होता। तत्त्वज्ञानी यह अच्छी तरह जानता है कि मृत्यु केवल पुराना झोंपड़ा छोड़कर नये भवन में निवास करने के समान स्थानान्तरण मात्र है, पुराना मैला-कुचैला वस्त्र उतारकर नया वस्त्र धारण करने के समान है।

सम्यग्दृष्टि या तत्त्वज्ञानी को देह में आत्मबुद्धि नहीं रहती। वह देह की नश्वरता, क्षणभंगुरता से भली-भाँति परिचित होता है।

(८७)

मृत्यु के समय ज्ञानी की आँखों में आँसू देखकर उसे अज्ञानी नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि वह अभी श्रद्धा के स्तर तक ही मृत्युभय से मुक्त हो पाया है। चारित्रमोहजनित कमजोरी तो अभी है ही। फिर भी वह विचार करता है कि स्वतंत्र स्वसञ्चालित अनादिकालीन वस्तु व्यवस्था के अन्तर्गत मरण भी एक सत्य तथ्य है, जिसे न तो नकारा ही जा सकता है, न टाला ही जा सकता है और न आगे-पीछे ही किया जा सकता है।

यद्यपि ज्ञानी व अज्ञानी अपने-अपने विकल्पानुसार इन प्रतिकूल परिस्थितियों को अन्त तक टालने के भरसक प्रयास करते हैं, तथापि उनके वे प्रयास सफल नहीं होते, हो भी नहीं सकते।

ज्ञानीजन स्वतंत्र-स्व-संचालित विश्व-व्यवस्था के इस प्राकृतिक तथ्य से भली-भाँति परिचित होन से श्रद्धा के स्तर पर मृत्युभय से भयभीत नहीं होते और अपना अमूल्य समय व्यर्थ की चिन्ताओं में बर्बाद नहीं करते। वे समाधि की साधना करते हुए अन्त में सल्लेखना धारण कर मृत्यु का सहर्षवरण करते हैं।

(८८)

सल्लेखना में जहाँ काय व कषाय कृश करना मुख्य है, वहीं समाधि में निज शुद्धात्मस्वरूप का ध्यान प्रमुख है। सन्यास बिना समाधि सम्भव नहीं है और समाधि बिना सल्लेखना सम्भव नहीं होती।

तत्त्वज्ञान के बिना संसार में कोई सुखी नहीं है, अज्ञानी न तो समाधि से जी ही सकता है और न समाधिमरण पूर्वक मर ही सकता है। अतः हमें आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत प्रमुख सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है।

(८९)

हम चाहे निर्भय रहें या भयभीत, रोगों का उपचार करें या न करें; जो प्रबल कर्म उदय में आयेंगे, उनका फल तो भोगना ही होगा। जब तक असाता का उदय रहता है, तब तक निमित्त रूप से औषधि भी अनुकूल या कार्यकारी नहीं होती। अन्यथा बड़े-बड़े राजा-महाराजा और वैद्य-डॉक्टर तो कभी बीमार ही नहीं पड़ते; क्योंकि उनके पास साधनों की क्या कमी है? अतः स्पष्ट है कि होनहार के आगे कभी किसी का वश नहीं चलता।

(९०)

आत्मा का कल्याण करना हो तो बाल-बच्चों और घर गृहस्थी की इस चैं-चैं-पैं-पैं में ही करना होगा, अन्यथा उस घोड़े की तरह हम भी तत्त्वज्ञान का अमृत पिये बिना प्यासे ही रह जायेंगे। जब तक बच्चों की चैं-चैं, पैं-पैं बन्द होगी, तब तक सांसों का आना-जाना बन्द हो जायेगा, जीवन समाप्त

हो जायेगा। अतः इसी स्थिति में आत्मकल्याण का काम भी करना अनिवार्य है।

आत्मकल्याण का काम तो इस दुनियादारी की खटपट में रहते हुए ही चट-पट करना होगा। बाल-बच्चों की इस चैं-चैं में ही करना होगा।

(९१)

हम काम करें न करें; किसी के भी कारण दुनिया का कोई काम नहीं रुकता। जब हम नहीं रहेंगे तब क्या हम परलोक से आयेंगे यहाँ का काम निबटाने? फिर भी तो सब होगा ही? तो क्यों न हम जीते जी अपने को अपने में ही समेट लें और अपने में ही जमने-रमने का सम्यक् पुरुषार्थ कर लें?

(९२)

प्यासों को पानी पिलाकर उनका मात्र दो घण्टे का दुःख दूर किया जा सकता है, भूखों को भोजन देकर मात्र आठ घण्टे की भूख मिटाई जा सकती है, बीमारों को औषधिदान देकर किसी बीमारी विशेष से चार-छः माह को राहत दिलाई जा सकती है, वस्त्र विहीन दरिद्रियों को वस्त्रों का दान देकर उसकी क्षणिक लाज बचाई जा सकती है।

आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान के नाम पर क्षणिक दुःख दूर किया जा सकता है; परन्तु ऐसा करने से अनन्त जीवों के अनन्तकाल से हो रहे अनन्त दुख दूर नहीं किए जा सकते।

तत्त्वज्ञान का दान देना ही सर्वोत्तम उपकार है। तीर्थंकर आदि भी ऐसा ही उपकार करते हैं। अतः क्यों न अपने शेष जीवन को तत्त्वाभ्यास एवं तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में ही सम्पूर्णतया समर्पित कर दिया जाय? और इसके लिए जिन साधनों की आवश्यकता हो; उन सभी साधनों को जुटाने में अपने अर्जित धन का भी सदुपयोग क्यों न किया जाये? ॐ नमः।

नींव का पत्थर से ~

(१)

कोई कितना भी छुपकर गुप्त पाप करें अथवा भले काम करते हुए उनका बिल्कुल भी प्रदर्शन न करें तो भी कर्मों को तो पता चल ही जाता है। अर्थात् जीव के पुण्य-पापभावों के निमित्त से कर्मप्रकृतियों या कार्माण-वर्गणाओं में कर्मरूप परिणमन तो स्वतः हो ही जाता है।

(२)

जीव अपने ज्ञातादृष्टा स्वभाव और अपने कार्य की सीमाओं को भूलकर स्वयं दुःखों के बीज बोता है।

जब जीव अपने में शुभाशुभ भाव करते हैं तो कर्म सहज ही जीवों की ओर खिंचे चले जाते हैं, इसमें कर्मों का क्या दोष है? फिर भी नादान जीव कर्मों को ही दोषी ठहराता है।

(३)

जिसतरह पुण्योदय से प्राप्त मिष्ठान खाते-खाते पापोदय आ जाने से जीभ दाँतों के नीचे आ जाती है, उसीतरह जीव के पूर्व पुण्योदय से प्राप्त भोगों को भोगते-भोगते उसके पाप का ऐसा उदय आता है कि उसकी दुनियाँ ही पलट जाती है।

(४)

कुछ लोग प्रथम श्रेणी के ऐसे समझदार होते हैं कि दूसरों को ठोकर खाते देख स्वयं ठोकर खाने से बच जाते हैं। दूसरी श्रेणी में कुछ कम समझदार लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं ठोकर खाकर सीखते हैं तथा तीसरी श्रेणी के कुछ ना समझ लोग ऐसे भी होते हैं जो ठोकरों पर ठोकरें खाते हैं, फिर भी नहीं सीखते। तीसरी श्रेणी के ना समझ लोगों को दुःख के गढ़े में गिरने से कोई नहीं बचा सकता।

(५)

अन्तर्मुखी उपयोग करने का एकमात्र उपाय वस्तुस्वातंत्र्य की यथार्थ समझ और श्रद्धा ही है; क्योंकि वस्तुस्वातंत्र्य के ज्ञान-श्रद्धान बिना अन्य के भले-बुरे करने का भाव निरन्तर बना रहता है।

हमें ऐसा विश्वास हो कि प्रत्येक प्राणी; बल्कि पुद्गल के प्रत्येक परमाणु का परिणमन भी स्वाधीन है, किसी भी जीव के सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता कोई अन्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, स्वाधीन है, स्व-संचालित है। तब हम इस कर्तृत्व के भार से निर्भर हो सकेंगे।

(६)

सभी संयोग क्षण भंगुर हैं, पर्यायें लयधर्मा हैं, परिजन-पुरजन, जननी-भगनी, सुत-सुता, ध्रुव-धाम और प्रिय-वाम सब भिन्न हैं, अशरण हैं; एकमात्र शुद्धात्मा और परमात्मा ही शरणभूत हैं। ज्ञानी को ऐसा निश्चय हो जाता है।

(७)

किसी भी बात को कहने के पहले उसकी प्रतिक्रिया दूसरों पर क्या होगी, इस बात का विचार अवश्य करना चाहिए।

(८)

कोई बात चार कानों में पहुँची नहीं कि जगजाहिर हो जाती है। अतः किसी से कुछ कहने के पहले बात को विवेक की तराजू पर तौलना चाहिए।

(९)

जो दूसरों से शिक्षा रूप में कहा जाय, उस पर स्वयं भी अमल करना चाहिए क्योंकि किसी को कहकर नहीं सिखाया जा सकता, करके ही सिखाया जा सकता है। अन्यथा कही गई बात अप्रभावी ही रहेगी।

(१०)

संयोग न सुखदायक है और न दुःखदायक हैं; संयोगी भाव निश्चित ही दुःखदायक हैं। अतः संयोगों की जैसी जो स्थिति है, उसी में सहज रहना चाहिए। संयोगों के प्रभावित न हों।

(११)

यदि सम्यग्दर्शन मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है तो वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त उस मोक्षमहल की नींव का मजबूत पत्थर है। जिसतरह गहरी जड़ों के बिना वटवृक्ष सहस्रों वर्षों तक खड़ा नहीं रह सकता, गहरी नींव के पत्थरों के ठोस आधार बिना बहु-मंजिला महल खड़ा नहीं हो सकता; उसीप्रकार वस्तुस्वातंत्र्य एवं उसके पोषक चार अभाव षट्कारक, परपदार्थों के अकर्तृत्व का सिद्धान्त, कारण-कार्य आदि की ठोस नींव के बिना मोक्षमहल खड़ा नहीं हो सकेगा।

(१२)

साधारण नारी अपनी मान-मर्यादाओं में; सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक अंधविश्वासों में ऐसी जकड़ी और सिमटी रहती हैं कि वे सक्षम होकर भी अपनी क्षमता (योग्यता) को व्यक्त नहीं कर पातीं। उसे अपनी क्षमता व्यक्त करने के अवसर ही नहीं मिल पाते, इस कारण अधिकतर नारियों की क्षमता तो कुंठित ही हो जाती है।

विरली नारियाँ ही ऐसा साहस कर पाती हैं कि वे सामाजिक पुरातनपन्थी रूढ़ियों और धार्मिक अंध विश्वासों से ऊपर उठकर आगे आये।

(१३)

भौतिकदृष्टि से भले ही परदेश लोगों को सुखद लगता हो, पर आध्यात्मिक उन्नति के लिए वहाँ की स्थिति बिल्कुल भी अनुकूल नहीं है, वीतरागी साधु-सन्तों का आवागमन तो भौतिकवादी भोगप्रधान दूरस्थ देशों में संभव ही नहीं है, युवापीढ़ी के विद्वान भी वहाँ की चकाचौंध में चौंधियाकर वहीं के होकर रह जाते हैं और अपनी अर्जित विद्वता से हाथ धो बैठते हैं।

(१४)

आत्मकल्याण करने एवं परलोक सुधारने के लिए भले ही कोई तत्काल निर्णय न ले पाये; पर संतान का मोह कुछ ऐसा ही होता है कि उनके हित के लिए जो भी करना पड़े, लोग करते हैं। परदेश छोड़कर वापिस स्वदेश

आना पड़े तो आते हैं। संसार के हित में किया समर्पण तो अच्छा है ही; किन्तु अपने आत्म कल्याण के हित में भी कुछ सोचने की जरूरत है।

(१५)

धर्म साधना से पाप के बीजरूप परिग्रह आदि वैभव के सुखद संयोगों की ममता टूटकर समताभाव जागृत हो जाता है। आत्मध्यान और तत्त्व चिन्तन में चित्त एकाग्र होता है। रागद्वेष रहित होकर वीतरागता की ओर अग्रसर होते हैं। अतः धर्म का यथार्थ स्वरूप समझ कर धर्म कार्यों में प्रवृत्त होना ही मानव जीवन की सार्थकता है।

(१६)

कैसा होगा वह धर्म का स्वरूप, जिससे जन्म, जरा, भूख, प्यास, रोग, शोक, मद, मोह आदि दोषों का अभाव होकर वीतराग भाव जागृत होता है? आत्मा-परमात्मा बन जाता है। आत्मा अतीन्द्रिय, निराकुल सुख सरोवर में निमग्न होकर सदैव परम शान्ति और शीतलता का अनुभव करता है। जिस धर्म से तो समता भाव के साथ त्रैकालिक स्थाई आनन्द का झरना झरता रहता है वही वास्तविक धर्म है, धर्म स्व-परीक्षित साधना है।

(१७)

यदि कोई शुभभाव रूप धर्माचरण को शुद्ध (वीतरागता) रूप धर्म समझ ले तो यह तो उसकी भूल ही है। यदि स्थिति चारित्र और सदाचार की है। सदाचार को चारित्र नहीं माना जा सकता। पूर्वाग्रह के झाड़ की जड़ें गहरी नहीं होतीं।

(१८)

श्रद्धा में वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त का अटूट विश्वास होने पर भी जब तक गृहस्थ जीवन में अपनी संतान के प्रति राग है, तब तक उसके भविष्य को उज्ज्वल बनाने के विकल्प नहीं छूटते।

(१९)

बहुएँ या सासँ कोई कठपुतलियाँ तो नहीं; जो दूसरों की उंगलियों के इशारे से नाचती हैं। सबकी अपनी-अपनी इच्छायें होतीं हैं, अपने-अपने

विचार होते हैं, उन्हें सुनें-समझें; फिर एकमत हों तो ठीक; अन्यथा कोई बात नहीं। जो जिसे जंचे करने दो; सब अपनी-अपनी मर्जी के मालिक हैं, मन के राजा हैं, उन्हें मर्जी का मालिक और मन का राजा ही रहने दें।

(२०)

वस्तुस्वातंत्र्य के महामंत्र का स्मरण करके कोई किसी के काम में हस्तक्षेप न करें। न स्वयं अपने मन को मारे और न दूसरों के मन को मरोड़े। यही सुख-शान्ति से रहने का महामंत्र है। अतः वस्तुस्वातंत्र्य का महामंत्र जपो और आकुलता से बचो। यही संतों का उपदेश है, आदेश है।

(२१)

स्वतंत्रता के तीन रूप होते हैं। १. अस्तित्वात्मक स्वतंत्रता, २. क्रियात्मक स्वतंत्रता, ३. ज्ञानात्मक स्वतंत्रता। इनमें प्रथम व द्वितीय स्वतंत्रता तो सभी वस्तुओं में अनादि से है ही; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुओं का अस्तित्व और उनमें होने वाला क्रियारूप स्वभाव-परिणामन तो अनादि से स्वाधीनतापूर्वक हो ही रहा है; किन्तु ज्ञानात्मक स्वतंत्रता अज्ञानी जीवों को नहीं है अर्थात् अज्ञानी को अपने स्वतंत्र अस्तित्व और क्रिया की स्वाधीनता का ज्ञान नहीं है।

(२२)

अचेतन हीरों से भी अधिक अमूल्य निज आत्मारूपी चैतन्य हीरा पूर्णस्वतंत्र, स्वावलम्बी, स्वसंचालित एवं स्वयं सुख स्वभावी होते हुए भी हमने स्वयं को नहीं जाना, अपने को नहीं खोजा, देहादि में ही अपने अस्तित्व को मानता-जानता रहा है। जहाँ सुख नहीं वहाँ सुख ढूँढा तो सुख मिलेगा कैसे?

(२३)

वर्तमान विश्व के लगभग छह अरब आदमियों में शायद ही कोई ऐसा हो जो किसी न किसी रूप में धर्म को न मानता हो। सभी व्यक्ति अपनी-अपनी समझ एवं श्रद्धा के अनुसार धर्म को तो मानते ही हैं; परन्तु मुण्डे-

मुण्डे मर्ति भिन्नः' इस सूक्ति के अनुसार सारी दुनिया में जितने व्यक्ति हैं, उनमें सबके विचार भिन्न-भिन्न होते हैं, एक दूसरे के विचार परस्पर में एक-दूसरे से कभी नहीं मिलते। उनमें सम्पूर्ण रूप से समानता संभव ही नहीं है; क्योंकि प्रकृति से ही सबके सोचने का स्तर एवं उनके ज्ञान का स्तर समान नहीं होता।

जगत में जीव नाना प्रकार के हैं, उनके कर्मों का उदय भी भिन्न-भिन्न प्रकार का है, उनके सबके ज्ञान का विकास भी एक जैसा नहीं है। अतः विचार भी एक जैसे नहीं हो सकते हैं। अतः निष्पक्ष होकर सत्य का निर्णय स्वयं ही करना होगा।

(२४)

धर्म तो वस्तु का स्वरूप है और वस्तु का स्वरूप बनाया नहीं जाता। वह तो अनादि-अनन्त-त्रिकाल आग की उष्णता और पानी की शीतलता की भाँति एकरूप ही होता है।

त्रिकाली स्वभाव सदा एकरूप ही रहता है, उसे पाने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता, बल्कि करने के निरर्थक विकल्प बंद करना पड़ते हैं अर्थात् अनादिकाल से वस्तु स्वरूप के अज्ञान के कारण जो हमारी परद्रव्य में कर्तृत्वबुद्धि है, उसे छोड़ना पड़ता है।

जिसतरह आग का स्वभाव उष्ण है, उसीतरह आत्मा का स्वभाव जानना है, क्षमा, निरभिमान, निष्कपट तथा निर्लोभ है। ये ही आत्मा के धर्म हैं।

(२५)

जगत में भी ऐसा कोई मजहब, सम्प्रदाय और जातिगत धर्म नहीं है जो क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह को धर्म नहीं मानता हो तथा क्रोध-मान-माया-लोभ और मोह-राग-द्वेष तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को अधर्म न मानता हो। वस्तुतः ये ही धर्म और अधर्म हैं। इन्हें किसी न किसी रूप में सभी स्वीकार करते हैं।

जब तक वक्ता के प्रति श्रोता की सच्ची श्रद्धा भक्ति नहीं होगी और सम्पूर्ण समर्पण नहीं होगा एवं उनके प्रवचनों को ध्यान से नहीं सुनेगा तब तक उसे तत्त्वज्ञान का लाभ नहीं होगा।

(२६)

वास्तविक विश्व का स्वरूप शास्त्रीय परिभाषा के अन्तर्गत छह द्रव्यों के समूह को कहा है। उन छह द्रव्यों में जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त है; धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्य एक-एक हैं तथा काल द्रव्य असंख्य हैं। इन अनादि-अनन्त स्वतंत्र स्वाधीन स्वावलम्बी स्वसंचालित द्रव्यों में जो अनन्त जीव द्रव्य हैं, उनमें हम भी एक द्रव्य हैं।

छह द्रव्य के समूह रूप त्रिलोकव्यापी अनादि-अनन्त स्व-संचालित विश्व के स्वतंत्र अस्तित्व का परिचायक 'वस्तुस्वातंत्र्य' का सिद्धान्त है, जो कि स्वाभाविक कार्य-कारण व्यवस्था और सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का मूल आधार है।

विश्व का कण-कण सम्पूर्णतः परनिरपेक्ष, स्वाधीन, स्वतंत्र, स्वसंचालित एवं स्वावलम्बी है। उसे अपने अस्तित्व के लिए एवं परिणमन के लिए रंचमात्र भी पर के सहयोग की आवश्यकता नहीं है।

(२७)

प्रायः होता यह है कि दुनिया की दृष्टि में तीर्थकर तुल्य महत्वपूर्ण होने पर भी पत्नी पुत्र, पुत्रवधू और घर-परिवार वालों को धर्म का परिचय और प्रीति न होने से घर के विद्वान वक्ता की महिमा नहीं आती।

(२८)

जीवघात होने पर भी यदि व्यक्ति का इरादा उसे घात करने का नहीं हो तो उसे हिंसक नहीं माना जाता। जीवघात तो अनेक कारणों से हो जाता है होता ही रहता है; जैसे प्राकृतिक प्रलय, तूफान, बाढ़, महामारी, आगजनी, भूकम्प आदि अनेक ऐसी घटनायें होती ही रहती हैं; जिनमें असंख्य मानव पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़ों का घात हो जाता है, फिर भी हिंसा का पाप किसी को नहीं लगता। उसे हिंसा कहते भी नहीं है।

इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति किसी के घात करने की सोचता भी है तथा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कोई ऐसी योजना बनाता है, जिसमें जीवों के मरने की संभावनायें होती हैं तो भले ही उसके सोच के अनुसार जीवों का घात न भी हो तो भी वह व्यक्ति हिंसक है, अपराधी है; क्योंकि उसने सोचने एवं योजना बनाते समय जीवों की रक्षा की परवाह नहीं की।

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध अन्य जीवों के मरने न मरने से नहीं है, बल्कि स्वयं के अभिप्राय और प्रमाद से है। यदि स्वयं का परिणाम क्रूर है और अभिप्राय जीवों के घात का है तो वे नियम से हिंसक हैं तथा अभिप्राय में क्रूरता और जीवघात की भावना नहीं है तो अन्य जीवों के मरने पर भी वह अहिंसक है। जैसे कि - ऑपरेशन थियेटर में ऑपरेशन करते-करते मरीज मर जाता है, किन्तु उस मौत के कारण डॉक्टर को हिंसक नहीं माना जाता। अतः जीव के मरने-जीने से हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने कहा भी है कि - 'हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है।'

वास्तव में तो अन्य जीवों के जीवन, मरण, सुख-दुःख से भी हिंसा-अहिंसा का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उनके जीवन-मरण एवं सुख-दुःख में भी अन्तरंग निमित्त कारण तो उनके ही आयुर्कर्म तथा साता-असाता वेदनीय कर्म हैं और उपादान कारण वे स्वयं हैं।

इस जगत में जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख यह सब सदैव नियम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मोदय से होते हैं। दूसरा पुरुष दूसरे के जीवन-मरण, सुख-दुःख का कर्ता है - यह मानना तो अज्ञान है।

मैं परजीव की रक्षा कर सकता हूँ या मार सकता हूँ यह मान्यता मिथ्यात्व है, इस बात को अवश्य ध्यान में रखना योग्य है।

(२९)

जगत में छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कोई भी काम बिना कारण के तो होता ही नहीं, जो भी कार्य होता है, उसका कोई न कोई कारण तो होता

ही है। जब यह अकाट्य नियम है तो फिर यह क्यों कहा गया कि - 'परमाणु-परमाणु का परिणमन स्वतंत्र है, स्व-संचालित हैं, कोई भी किसी कार्य का कर्ता-धर्ता नहीं है। क्या यह बात परस्पर विरोधी नहीं है?

नहीं, यह परस्पर विरोधी नहीं है, क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्धों को मिलने-मिलाने की जिम्मेदारी किसी व्यक्ति विशेष की नहीं है। जब कार्य होता है तब कार्य के अनुकूल सभी कारण स्वतः ही मिलते हैं। चाहे वे काम अकृत्रिम हों, प्राकृतिक हों या कृत्रिम हों।

द्रव्यशक्ति के अनुसार कार्य का नियामक कारण त्रिकाली उपादान है, इस अपेक्षा से सत्कार्यवाद का सिद्धान्त सही है; किन्तु केवल द्रव्यशक्ति के अनुसार कार्योत्पत्ति मानने पर कार्य के नियत्व का प्रसंग आता है, इसकारण वह कार्य का नियामक कारण तो है, पर समर्थ कारण नहीं। समर्थ कारण तत्समय की पर्याय की योग्यता है, और वही पर्याय का कार्य है।

इसप्रकार वास्तविक या समर्थ कारण-कार्य सम्बन्ध एक ही द्रव्य की एक ही वर्तमान पर्याय में घटित होते हैं, उसीसमय संयोग रूप जो उस कार्य के अनुकूल परद्रव्य होते हैं, उन्हें उपचार से निमित्त कारण कहा जाता है।

उपादान कारण पूर्ण स्वतंत्र स्वाधीन व स्वशक्ति सामर्थ्य से युक्त है; परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करने में पूर्णतः असमर्थ है।

एक कार्य के दो कर्ता कदापि नहीं हो सकते तथा एक द्रव्य युगपद एककाल में दो कार्य नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वतंत्र रूप से स्वयं ही करता है। स्वयं अपनी शक्ति से परिणमित होती हुई वस्तु में अन्य के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

यदि उपादान कारण में स्वयं योग्यता न हो तो निमित्त उसे परिणमित नहीं करा सकता। विश्व की समस्त वस्तुएँ (द्रव्य) अपनी-अपनी ध्रुव व क्षणिक योग्यतारूप उपादान सामर्थ्य से भरपूर हैं।

(३०)

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिसके जिन गुणों की प्रशंसा की जाती है, उसके उन गुणों का विकास तीव्र गति से होने लगता है।

(३१)

बुरी बात को इस कान से सुनो और उस कान से निकाल दो। उसे गले से निगलो ही मत। निगलने से ही तो पेट में दर्द की संभावना बनती है।

(३२)

किसी को भी मानसिक दुःख न हो, सभी सद्भाव से रहें। कोई किसी को लड़ायें-भिड़ायें नहीं। इसके लिए हमें भगवान की सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझना होगा। सर्वशक्तिवान भगवान सर्वज्ञ हमारे-तुम्हारे सबके भविष्य को भी जानते ही हैं। वह सर्वज्ञ विश्व में जिस द्रव्य में जो होने वाला है, उसे ही जानेंगे, अनहोनी तो जानेंगे ही नहीं।

इन सब बातों से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जब जो होना है; वही होता है तो हम भला-बुरा करने के भाव करके व्यर्थ में पुण्य-पाप के चक्कर में क्यों पड़ें। जो सर्वज्ञ के जाने गये अनुसार होना है, उसमें हमारा क्या स्थान है? बस हमें इतना जानना भर है। यदि न जानो तो यह भी मत जानो, होने वाले काम को आपके जानने की भी अपेक्षा नहीं है, वह तो अपने स्वकाल में अपनी तत्समय की योग्यता से होगा ही।

(३३)

'सर्वज्ञ' शब्द में जो सर्व शब्द है उसका तात्पर्य त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों से है। जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को युगपत प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञ है।

सर्वज्ञ जानता तो सबको है; पर वह पर को तन्मय होकर नहीं जानता। सर्वज्ञ पर को जानते हुए भी निजानंद में ही मग्न रहते हैं।

(३४)

यद्यपि क्रमबद्धपर्याय स्वतः संचालित अनादि-निधन सुव्यवस्थित विश्व-व्यवस्था का एक ऐसा नाम है जो अनन्तानन्त सर्वज्ञ भगवन्तों के ज्ञान में तो अनादि से है ही, उनकी दिव्य वाणी से उद्भूत चारों अनुयोगों में भी है। इसे चारों ही अनुयोगों में सर्वत्र देखा, खोजा जा सकता है। बस, देखने के लिए निष्पक्ष शोधपरक दृष्टि चाहिए।

क्रमबद्धपर्याय से आशय यह है कि इस परिणमनशील जगत की परिणमन व्यवस्था क्रम नियमित है। जगत में जो भी परिणमन निरन्तर हो रहा है, वह सब एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित रूप से हो रहा है। स्थूल दृष्टि से देखने पर जो परिणमन अव्यवस्थित दिखाई देता है; वह भी व्यवस्थित ही है।

जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थपूर्वक, जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थ पूर्वक वैसी ही होती है, अन्यथा नहीं - यह नियम है।

इस नियम के अनुसार जिसका जन्म अथवा मरण जिनदेव ने जैसा नियतरूप से जाना है, उस जीव का, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है? इस प्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है, वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है।

(३५)

सर्वज्ञ को धर्म का मूल कहा गया है। जो व्यक्ति सर्वज्ञ भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है और उसका मोह नियम से क्षय हो जाता है। अतः अरहंतों को जानना तो हमारी प्राथमिकता है।

‘सर्वज्ञता’ और ‘क्रमबद्धपर्याय’ परस्परानुबद्ध हैं। एक का निर्णय व सच्ची समझ दूसरे के निर्णय के साथ जुड़ी हुई है। दोनों का निर्णय ही सर्वज्ञ स्वभावी निज आत्मा के अनुभव के सम्मुख होने का साधन है।

(६६)

(३६)

पाँच समवायों में काल के अतिरिक्त अन्य स्वभाव, पुरुषार्थ, होनहार और निमित्तरूप चार समवायों की मुख्यता से मृत्यु की बात करें तो उसे अकाल मरण कहते हैं तथा जब काल की मुख्यता से बात करें तो वही मृत्यु की घटना स्वकाल में हुई - ऐसा कहा जाता है।

(३७)

स्वभाव और पुरुषार्थ की श्रद्धा वाले की होनहार भी भली होती है और उसकी काललब्धि भी मुक्ति मार्ग पाने की आ गई, इसतरह जिसके चार-चार समवाय हो गये उसको निमित्त भी तदनुकूल मिलता ही है।

(३८)

मांसाहारी पशुओं की मजबूरी की बात तो समझ में आती है, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि मनुष्य को ऐसी क्या मजबूरी है जो मांसाहार करता है। मनुष्य तो प्रकृति से शाकाहारी ही है। मांस उसके दांतों और आतों के भी अनुकूल नहीं है।

(३९)

जिसका क्रिया से सीधा सम्बन्ध हो, जो क्रिया के प्रति किसी न किसी रूप में प्रयोजक हो, जो क्रिया निष्पत्ति में कार्यकारी हो, क्रिया का जनक हो; उसे कारक या कारण कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जो किसी न किसी रूप में क्रिया व्यापार के प्रति प्रयोजक हो, कार्यकारी हो, वही कारक हो सकता है अन्य नहीं; कारक छह होते हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण।

(४०)

सामान्य जन तो स्वयं को दूसरों के सुख-दुःख का कर्ता और दूसरों को अपने सुख-दुःख का कर्ता मानकर दूसरों पर राग-द्वेष करके हर्ष-विषाद

करते ही हैं, स्वयं को धर्मात्मा और ज्ञानी मानने वाले भी इस पर के कर्तृत्व की मान्यता में ही उलझे रहकर राग-द्वेष से नहीं उबर पाते। इसका मूल कारण निमित्त-नैमित्तिक संबंधों की घनिष्ठता के कारण उनके सही स्वरूप को न जानता है।

(४१)

अकर्तृत्व के सिद्धान्त के आधार पर जब हमारी श्रद्धा ऐसी हो जाती है कि कोई भी जीव किसी अन्य जीव का भला या बुरा कुछ भी नहीं कर सकता, तो फिर हमारे मन में अकारण ही किसी के प्रति राग-द्वेष-मोहभाव क्यों होंगे?

(४२)

यद्यपि सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा सिद्धों जैसी पूर्ण निर्मल होती है, तथापि वह चारित्रमोह कर्मोदय के निमित्त से एवं स्वयं के पुरुषार्थ की कमी के कारण दूसरों पर कषाय करता हुआ भी देखा जा सकता है; पर सम्यग्दृष्टि उसे अपनी कमजोरी मानता है। उस समय भी उसकी श्रद्धा में तो यही भाव है कि पर ने मेरा कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं किया है। अतः उसे उसमें अनन्त राग-द्वेष नहीं होता। उत्पन्न हुई कषाय को कमजोर करने का पुरुषार्थ भी अन्तरात्मा में निरन्तर चालू रहता है।

(४३)

वस्तुतः पर में अकर्तृत्व की यथार्थ श्रद्धा रखने वाले का तो जीवन ही बदल जाता है। वह अन्दर ही अन्दर कितना सुखी, शान्त, निरभिमानी, निर्लोभी और निराकुल हो जाता है, अज्ञानी तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

(४४)

जो परिणमित होता है, वह कर्ता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते हैं और जो परिणति है वह क्रिया कहलाती है, वास्तव में तीनों भिन्न

नहीं हैं। लोक में सभी कार्य स्वतः अपने-अपने षट्कारकों से ही सम्पन्न होते हैं। उनका कर्ता-धर्ता मैं नहीं हूँ। ऐसी श्रद्धा से ज्ञानी पर के कर्तृत्व के भार से निर्भर होकर अपने ज्ञायक-स्वभाव का आश्रय लेता है। यही आत्मानुभूति का सहज उपाय है।

(४५)

मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से अकर्तावाद सिद्धान्त की ऐसी श्रद्धा हो जाती है कि जिससे उसके असीम कष्ट सीमित रह जाते हैं। जो विकार शेष बचता है, उसकी उम्र भी लम्बी नहीं होती।

(४६)

‘नाच न जाने आँगन टेड़ा’ मुहावरे के मुताबिक सामान्यजनों द्वारा अपनी भूल को स्वीकार न करके अपने दोषों को दूसरों पर आरोपित करने की पुरानी परम्परा रही है। पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि -

“अज्ञानी जीव स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मों के माथे मढ़ता है सो यह अनीति तो संभव नहीं है।”

(४७)

योग्य पत्नी मंत्री की भाँति सही सलाहकार होती हैं; माता की भाँति स्नेह से भोजन कराती है। दासी की भाँति सेवा में तत्पर रहती है और लौकिक सुखों में पत्नी का धर्म निभाती हैं।

(४८)

मुक्ति का मार्ग कितना सरल, कितना सहज है? वस्तुतः मुक्त होने के लिए बाहर में कुछ भी तो नहीं करना है। पर में कुछ करने में तो धर्म है ही नहीं, पर से तो मात्र हटना है और स्व में मात्र लगना है।

(४९)

भगवान आत्मा आधि-व्याधिजनित पीड़ा से सर्वथा पृथक ही है; क्योंकि आत्मा राग और रोग दोनों से पृथक है। इसकारण ज्ञानी को वेदना

होते हुए भी वेदना जनित भय नहीं होता और शरीर तो व्याधि का ही मन्दिर है, रोगों का ही घर है। इसके एक-एक रोम में ९६-९६ रोग हैं। इसकारण रोगों से बचने का तो एकमात्र उपाय देहातीत होना ही है। जब तक संसार में जन्म-मरण है, तब तक कोई भी इन व्याधियों से नहीं बच सकता।

(५०)

वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त एवं उसके पोषक कारण-कार्य, चार अभाव, पाँच समवाय, षट्कारक आदि ही तो वे आधार शिलार्यें हैं, जिस पर मोक्षमहल का निर्माण होता है। अतः इन सबको जानकर श्रद्धान करना एवं तदनुकूल धर्माचरण करना ही तो धर्म का मूल है। इनकी यथार्थ प्रतीति से उपयोग की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होने लगेगी, फिर हम समस्त कर्तृत्व के भार से निर्भर हो जायेंगे।

वस्तुतः यह धर्माचरण साधन है, साध्य नहीं है। साध्य तो एकमात्र शुद्धात्मा, कारण परमात्मा है, एतदर्थ मुक्ति महल के नींव के पत्थर वस्तु स्वातंत्र्य का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होना हमारी प्राथमिक आवश्यकता है।

●

कहानी : ऐसे क्या पाप किए से ~

(१)

जब संकट के बादल सिर पर मंडरा रहे हैं, सब ओर से विपत्तियाँ घेरे हैं, तरह-तरह की मुसीबतों में फँसे हैं, नाना प्रकार की बीमारियाँ शरीर में स्थाई निवास बना चुकी हैं; तो ये सब पुण्य के फल तो होते ही नहीं हैं, इससे स्पष्ट है कि कोई न कोई पाप तो किए होंगे, जिनको हम भूल गये हैं और भगवान से पूछने लगे हैं कि - 'हे भगवान! हमने पिछले जन्म में ऐसे क्या पाप किये थे, जिनकी इतनी बड़ी सजा हमें मिल रही है?

(२)

जगत के जीवों की कुछ ऐसी ही मनोवृत्ति है कि वे पाप तो हंस-हंस कर करते हैं और उनका फल भुगतना नहीं चाहते। पुण्य कार्य करते नहीं हैं और फल पुण्य का चाहते हैं। वस्तुतः जीवों को पुण्य-पाप के परिणामों की पहचान ही नहीं है, पाप बन्ध कैसे होता है, पुण्य बन्ध कैसे होता है, इसका पता ही नहीं है। वे बाहर में होती हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि को ही पाप समझते हैं, आत्मा में हो रहे खोटे भावों को पाप ही नहीं मानते। यही सबसे बड़ी भूल हैं, जिसे अज्ञानी नहीं जानता। इसी कारण दुःख के ही बादल मंडराते रहते हैं। जब क्षणभर को भी शान्ति नहीं मिलती तो भगवान से पूछता है कि - हे भगवान्! मैंने ऐसे क्या पाप किए?

(३)

वस्तु स्थिति यह है कि अभी जीवों को पाप की भी सही पहचान नहीं है। हत्या, झूठ, चोरी, पराई माँ-बहिन-बेटी पर कुदृष्टि तो पाप है ही; परन्तु पाप-पुण्य का सम्बन्ध पर द्रव्यों से नहीं; बल्कि अपने परिणामों से होता है; अपने मिथ्या अभिप्राय से होता है, इसकी उसे खबर नहीं है।

(४)

पुण्य के उदय में हर्ष मानना, पाप के उदय में खेद खिन्न होना, शरीर की संभाल में लगे रहना, देह की वृद्धि में प्रसन्नता और देह की क्षीणता में अप्रसन्नता। भला इन्हें कौन पाप गिनता है? परन्तु पण्डित बनारसीदास ने इन्हें ही जुआ खेलने और मांस खाने जैसे व्यसनो में गिनाया है।

(५)

जो मिथ्या मान्यता के कारण अशुभ उदय आने पर प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी हार मानता है तथा शुभोदय में अनुकूल स्थिति में अपनी जीत मानता है; वह एक तरह से जुआरी ही है; जैसे हर्ष-विषाद रूप परिणाम जुआ की जीत-हार में होते हैं, वैसे ही हर्ष-विषाद के परिणाम जिसने पुण्य-पाप के उदय में किए तो दोनों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि फल तो परिणामों का ही मिलता है न? इस कारण जुआ में हर्ष-विषाद और पुण्य-पाप के उदय से हुए हर्ष-विषाद दोनों एक जैसे ही हैं।

इसी तरह मांसल देह में एकत्व व ममत्व बुद्धि से मग्न हो ना भी मांस खाने जैसा व्यसन ही है?

(६)

शराब पीकर मूर्च्छित हुआ या मोह में मूर्च्छित दोनों में कोई अन्तर नहीं है, मूर्च्छा तो दोनों में हुई न। अतः मोही जीव का मोह भी एक प्रकार से शराब पीने जैसा व्यसन ही है।

(७)

ये कुबुद्धि या व्यभिचारिणी बुद्धि वैश्या व्यसन जैसा है। निर्दय होकर किसी भी प्राणी की हिंसा में प्रवृत्ति शिकार व्यसन है तथा दूसरों की बुद्धि की परख करने को परस्त्री सेवन का व्यसन कहा है। दूसरों की वस्तु रागवश ग्रहण करना चोरी व्यसन है। इन सात व्यसनो में सुख की मान्यता के त्यागपूर्वक ही आत्मा को जाना/पहचाना जा सकता है।

(६९)

(८)

पुत्र-पुत्रियों से प्रीति करना, उनमें ममत्व रखना, उनके वियोग में दुःखी होना, देह में एकत्व रखना, देह के ही संभालने में रत रहना, शरीर में रोगादि होने पर दुःखी होना आदि भी पाप है - ऐसा बहुत ही कम लोग जानते हैं, जबकि ये आर्तध्यान रूप पाप परिणाम है।

(९)

जगत में कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है, भला-बुरा नहीं है, फिर भी उसे भला-बुरा मानना रूप मिथ्या अभिप्राय से दिन-रात आर्तध्यान, रौद्रध्यान परिणामों में डूबे हुए व्यक्ति को यह समझ में नहीं आता कि इष्ट वियोगज एवं अनिष्ट संयोगज तथा पीड़ा चिन्तन रूप आर्तध्यान और पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आनन्द मानना रौद्रध्यान रूप पाप है। यह तो अज्ञानी जानता नहीं है और जिसमें पाप नहीं है, उसे पाप मानता है। किसी से भले ही जीवनभर एक भी प्राणी का घात न हुआ हो, किसी ने एक भी शब्द असत्य न बोला हो, इसीतरह किसी को चोरी, कुशील व बाह्य परिग्रह में किंचित् भी प्रवृत्ति न हुई है परन्तु जो देवी-देवताओं की उपासना रूप गृहीत मिथ्यात्व के साथ उक्त मिथ्या मान्यता से इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, पीड़ा-चिन्तन रूप आर्तध्यान करता रहे, विषयानन्दी रौद्रध्यान करता रहे तो ये सब पाप ही हैं। इसी तरह अपने परिवार के प्रति प्रीत करता हुआ उसमें आनन्द मनाये तो ये सभी हिंसानन्दी और परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान हैं, ये परिणाम पाप ही है और दुःख के कारण हैं।

(१०)

आश्चर्य इसका नहीं होना चाहिये कि कौन से पाप किये, बल्कि आश्चर्य तो यह है कि मिथ्या मान्यतावश दिन-रात पाप भाव में रहते हुए ऐसा महान पुण्य कब बाँध लिया, जिससे यह मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, जिनधर्म की शरण और धर्म के अनुकूल वातावरण प्राप्त कर लिया? यह

अनुकूलता निश्चय ही कोई महान् पुण्य का फल है, यह अवसर अनन्त/असंख्य प्राणियों में किसी एकाध को ही मिलता है जिसे हम प्राप्त करके प्रमाद में खो रहे हैं। यदि यह अवसर चूक गये तो पुनः यह अवसर कब मिलेगा। इसका कोई पता नहीं। कहा भी है -

‘यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवो जिनवाणी।

इह विधि गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥’

(११)

यह एक नियम है कि ध्यान के बिना कोई भी संसारी जीव नहीं है। कोई न कोई ध्यान प्रत्येक प्राणी में पाया ही जाता है। यदि व्यक्ति का अभिप्राय, मान्यता सही नहीं है तो उसे आर्त-रौद्रध्यान ही होते हैं; क्योंकि धर्मध्यान तो मिथ्या मान्यता में होता ही नहीं है। धर्मध्यान तो सम्यक्दृष्टि जीवों के ही होता है।

(१२)

करणानुयोग शास्त्रानुसार जितना बीच-बीच में शुभभाव होता है उतनी राहत तो असाध्य रोगों व दुःखों के बीच में भी मिल ही जाती है, पर; उस सागर जैसे दुःख में एक बूँद जैसे सांसारिक सुख का क्या मूल्य? ऐसी स्थिति में इस जीव को सुखी होना हो तो पुण्य-पाप परिणामों की पहचान के लिए जिनवाणी का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। पण्डित भागचन्द्रजी ठीक कहते हैं -

‘अपने परिणामनि की संभाल में, तातें गाफिल मत हो प्राणी।’

बंध-मोक्ष परिणामन ही तैं, कहत सदा ये जिनवरवाणी।

(१३)

यहाँ ‘गाफिल’ शब्द के दो अर्थ हैं एक तो सीधा-सादा यह कि परिणामों की संभाल में सावधान रहो, अपने शुभाशुभ परिणामों को पहचानों और अशुभ भावों से बचो। दूसरा अर्थ है कि शुभाशुभ परिणामों में ही गाफिल (मग्न) मत रहो, अपने परिणामी द्रव्य को पहचानों तभी परिणाम हमारे स्वभाव सन्मुख होंगे।

मान से मुक्ति की ओर से ~

(१)

यह सब तो पुण्य-पाप का खेल है। रोड़ पर पैदल रास्ता नापने वालों को करोड़पति बनकर कार में दौड़ने में यदि देर नहीं लगती तो करोड़पति से पुनः रोड़ पर आ जाने में भी देर नहीं लगती। शास्त्र इस बात के साक्षी हैं, शास्त्रों में लिखा है कि जो जीव एकक्षण पहले तक स्वर्गों के सुख भोगता है, सहस्रों देवांगनाओं सहित नन्दनवन के सैर-सपाटे करता हुआ आनन्दित होता है; वही अगले क्षण आयु पूरी होने पर एक इन्द्रिय जीव की योनि में चला जाता है। जो अभी चक्रवर्ती के भोगों के सुख भोग रहा है, वही मरकर सातवें नरक में भी जा सकता है।

(२)

यदि कोई थोड़ा भी समझदार हो, विवेकी हो तो वह क्षणिक अनुकूल संयोग में अपनी औकात (हैसियत) को नहीं भूलता। अपनी भूत और वर्तमान की कमजोरी और त्रिकाली स्वभाव की सामर्थ्य - दोनों को भलीभाँति जानता है।

(३)

मनुष्य तीन श्रेणी के होते हैं - १. उत्तम २. मध्यम और ३. अधम। उत्तममनुष्य वह है जो दूसरों की गलती का दुष्परिणाम देखकर स्वयं सावधान हो जाय। मध्यममनुष्य वह है जो एक बार गलती का दण्ड भुगतकर पुनः गलती न करे तथा अधम वह है, जो गलती पर गलती करता रहे; गलतियों का दण्ड भुगतता रहे; फिर भी सुधरे नहीं, चेते नहीं।

(४)

यद्यपि कुत्ता स्वामीभक्त होता है, यह उसका अद्वितीय गुण है। कुत्ते जैसा स्वामी भक्त कोई नहीं होता है, पर उसमें तीन दुर्गुण भी होते हैं - प्रथम - कुत्ता जब तक पिटता है, तभी तक काई-काई करता है, पिटना बंद होते ही फिर वही गलती करता है, जिसके कारण वह अभी-अभी

पिटा है। द्वितीय - कुत्ते की पूँछ १२ वर्ष तक भी पुंगी में क्यों न डाली जाये, जब भी निकलेगी टेढ़ी ही निकलेगी। तृतीय - कुत्ते में एक कमी यह भी होती है कि वह बिना प्रयोजन भी भौंकता रहता है, और दूसरे कुत्तों को देखकर तो वह जरूर ही भौंकता है। यदि कुत्तों की मौत नहीं मरना चाहते हो तो मनुष्य को कुत्ते के इन दुर्गुणों से बचना चाहिए।

(५)

कोई अपने मनोविकारों को कितना भी छिपाये, पर चेहरे की आकृति हृदय की बात कह ही देती है। खोटी नियत जाहिर हुए बिना नहीं रहती और खोटी नियत का खोटा नतीजा भी सामने आ ही जाता है।

(६)

जिस भाँति ज्ञानीजन निज निधि को एकान्त में ही भोगते हैं, उस तरह व्यवहारीजनों को भी अपने मान पोषण के लिए अपने बाह्य वैभव का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।

(७)

धन का संचय अन्याय से नहीं करना, क्योंकि अन्याय का पैसा कालान्तर में मूल पूँजी सहित नष्ट हो जाता है।

(८)

न्यायोपात्त धन अधिकतम छटवाँ और न्यूनतम दसवाँ भाग सत्कार्यों में, ज्ञानदान में, परोपकार में लगना चाहिए तथा 'तुरंत दान महाकल्याण' जितना जो बोल दिया हो, देने की घोषणा कर दी हो, तत्काल दे देना चाहिए। क्या पता अपने परिणाम या परिणस्थितियाँ कब विपरीत हो जायें और दिया हुआ दान न दे पायें।

(९)

शक्ति से अधिक दान नहीं देना, अन्यथा आकुलता हो सकती है तथा लोभ के वश शक्ति छुपाना भी नहीं। दान देकर उसके फल की वांछा-कांछा नहीं करना, बदले की अपेक्षा नहीं रखना। ●

जान रहा हूँ, देख रहा हूँ से ~

(१)

'धर्म परिभाषा नहीं प्रयोग है' अतः जो सिद्धान्त हमने यहाँ समझे-सुने हैं, उनका हमें अपने पारिवारिक-व्यापारिक और सामाजिक जीवन में प्रयोग भी करना चाहिए; क्योंकि घर-परिवार या व्यापार और समाज के क्षेत्र में ही ऐसे अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग बनते हैं, जहाँ हमारे तत्त्वज्ञान की परीक्षा होती है।

(२)

पैसे का आना-जाना तो पुण्य-पाप का खेल है। पुण्योदय से छप्पर फाड़कर चला आता है और पापोदय से तिजोड़ी तोड़कर चला जाता है।

(३)

पैसा तो उस कुँए के पानी की भाँति है, जिस कुँए की झिर चालू है। कृषक उस कुँए से दिनभर चरस चलाकर सम्पूर्ण पानी को खेतों में सींच-सींच कर कुँआ खाली कर देता है। वह खाली कुँआ प्रतिदिन प्रातः फिर उतना ही भर जाता है, कुँए की तरह तिजोड़ी को भी कोई कितनी भी खाली कर दे, पुण्योदय की झिर से वह पुनः भर जायेगी। अपने भाग्य पर भरोसा रखो और धर्माचरण में मन लगाओ। धर्माचरण मुक्ति का मार्ग तो है ही, धर्माचरण की अपूर्णता धन आने का भी स्रोत है।

(४)

वस्तुतः एक-दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता नहीं है, क्योंकि दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ता भाव की वज्र की दीवाल है।

(५)

आत्मा का धर्म तो मात्र जानना-देखना ही है। यदि एकजीव दूसरे का भला-बुरा करने लगे तो उसके पुण्य-पाप का क्या होगा? कहा भी है - स्वयं किए जो कर्म शुभाशुभ फला निश्चय ही वे देते। करे आप फल देय अन्य तो स्वयं किए निष्फल होते। ●

अध्यात्म रत्नाकर पण्डितश्री रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रति मुनिराजों के आशीर्वचन

बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद

● राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज

धर्मानुरागी विद्वान पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल वर्तमान जैनसमाज के उच्चकोटि के विद्वानों में से एक हैं। वर्तमान में वे जिसप्रकार एक दीपक से हजारों दीपक जलते हैं, एक बीजान्न से अनेक बीजान्न उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अनेक विद्वानों को तैयार कर जिनवाणी की महान सेवा कर रहे हैं।

पण्डितजी एक सिद्धहस्त एवं आगमनिष्ठ लेखक भी हैं। उनका ज्ञान अत्यन्त प्रमाणिक है, जो उनकी प्रत्येक कृति में अभिव्यक्त हो रहा है, चाहे वह 'जिनपूजन रहस्य' हो, चाहे 'णमोकार महामंत्र'। मुझे उनकी किसी भी कृति में एक अक्षर भी आगमविरुद्ध लिखा नहीं मिला।

उनके सार्वजनिक अभिनन्दन के इस अवसर पर मेरा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है, वे स्वस्थ एवं दीर्घायु होकर विद्वानों को तैयार करते रहें और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करके साहित्य सेवा भी करते रहें। □

अत्यन्त सरल स्वभावी विद्वान

● आचार्यश्री धर्मभूषणजी महाराज

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल अत्यन्त सरलस्वभावी व जिनागम के ज्ञाता विद्वान हैं। उन्होंने अत्यन्त सरल शब्दों में श्रावकाचार, जिनपूजन रहस्य जैसी अनेकों जैनधर्म की सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों की रचना की है। अभी उन्होंने शलाकापुरुष एवं हरिवंशकथा जैसी प्रथमानुयोग की अनुपम पुस्तकों का भी सुन्दर लेखन किया है। पण्डित रतनचन्द भारिल्ल जैन समाज में इसीप्रकार जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करते रहें - हमारा यही मंगल शुभ आशीर्वाद है। □

कोटिशः शुभाशीष

● आचार्यश्री भरतसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल समाज के सुयोग्य विद्वान हैं और अच्छे तत्त्वप्रचारक हैं। समाज ने इनका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया है, जो प्रशंसनीय है। समाज इसीप्रकार सरस्वती पुत्रों का सम्मान करती रहे, जिससे विद्वानों के द्वारा जिनवाणी का प्रचार-प्रसार हो सके। अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति को कोटिशः शुभाशीष सद्धर्मवृद्धिरस्तु। □

मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है

● अध्यात्मयोगी वयोवृद्ध मुनिराज श्री निर्वाणसागरजी महाराज

मैंने पण्डितजी के व्याख्यान अनेक बार सुने, ललितपुर के विधान में, विदिशा के पंचकल्याणक में, अशोकनगर के पंचकल्याणक में मैं था, पण्डितजी वहाँ आये थे। थूबोनजी में भी पण्डितजी आये थे। उनके प्रवचन बहुत सरल और व्यावहारिक होते हैं। मैंने उनके द्वारा अनुवाद किए समयसार के प्रवचन भी पढ़े, कहीं भी कोई आगमविरुद्ध बात नहीं है। उनका साहित्य निर्विवाद और अत्यन्त सरल होते हुए भी आध्यात्मिक है। जिनपूजन रहस्य, णमोकार महामंत्र, विदाई की बेला, सामान्य श्रावकाचार, संस्कार - ये सभी पुस्तकें नवयुवकों के लिए बहुत उपयोगी हैं। प्रथमानुयोग में भी उन्होंने हरिवंश कथा, शलाकापुरुष जैसे ग्रन्थ लिखकर बहुत अच्छा काम किया है। मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है।

धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद

● मुनिश्री विशदसागरजी महाराज

पण्डितप्रवर श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने अपना जीवन सम्यग्ज्ञान की साधना और आराधना में समर्पित किया। भारिल्लजी अध्यात्म योग के साथ समाज को सही दिशा देने के लिए प्रयत्नशील रहकर लेखन कार्य करते हैं। अनेक पुस्तकों को प्रकाशित कर जन-जन के हाथों में पहुँचाने के लिए तथा श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के माध्यम से छात्रों को जैन सिद्धान्त का ज्ञान कराने के लिए सदैव तत्पर रहनेवाले धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद। □

जिनवाणी के आराध्य

● अनगर ऊर्जयन्तसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल हम सभी के बीच ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जिसका जीवन जिनवाणी का आराधन करते हुए अपनी प्रज्ञा द्वारा

नव साहित्य सृजन एवं सुयोग्य विद्वानों के निर्माण में व्यतीत हो रहा है। हमारे जयपुर प्रवास में आयोजित विभिन्न धार्मिक समारोह गोष्ठियों आदि में आपने अपने तत्त्वज्ञान से समाज को काफी लाभान्वित किया है।

आपके द्वारा रचित प्रथमानुयोग के शलाका पुरुष भाग एक व दो तथा हरिवंश कथा आपकी लेखनी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सहज, सरल व गम्भीर व्यक्तित्व के धनी पण्डितजी का साहित्य और जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में जो योगदान है, वह अनुपमेय है। पण्डितजी साहब दीर्घजीवी होकर जिनवाणी की इसीप्रकार निरन्तर सेवा करते रहें। यह मेरा मंगल आशीर्वाद है। □

स्मरणीय सेवा

● पण्डिताचार्य भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी, जैनमठ, मूड़बिद्री

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल इतनी सादगी से रहते हैं कि प्रथमदृष्टया मिलने पर कोई उनके विशाल व्यक्तित्व का अंदाज भी नहीं लगा पाता और जब उसे उनका परिचय मिलता है तो उनकी सरलता को देखकर मिलनेवाले आश्चर्य चकित हो जाते हैं। पण्डितजी ने सरल लोकभाषा में धर्म के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके अत्यन्त उपकार किया है। उनकी किताबों के कन्नड़ अनुवाद से कन्नड़ की जनता भी उनका उपकार मानती है।

आपने धार्मिक उत्थान के साथ सामाजिक समस्याओं के लिए भी अपनी पुस्तकों में अनेक व्यावहारिक समाधान सुझाकर समाजोत्थान के लिए भी आश्चर्यपूर्ण काम किया है। आपकी सेवाओं को सदैव याद किया जायेगा। □

रतनचन्द से त्रैलोक्यनाथ बनें

● स्वस्ति श्री भट्टारक चिन्तामणि धवलकीर्ति स्वामीजी, अर्हत्सुगिरि

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल तो चन्द से भी शीतल सरल एवं कर्मठ कार्यकर्ता हैं। उनकी जैन साहित्य की मौलिक कृतियाँ हर एक मानव की मानवता का उत्थान करनेवाली हैं। उनके लेखन एवं बोलने की शैली भी अर्थ गम्भीरता को सूचित करती है। उन्होंने दक्षिण से लेकर उत्तर तक समस्त भारतभूमि की जनता का उत्थान किया है और अभी भी कर रहे हैं। वे साहित्य के माध्यम से विदेशों में भी पहुँच गये हैं। कुछ लोग जयपुर में बैठकर पत्थर में भगवान का रूप दे रहे हैं तो हमारे रतनचन्दजी जयपुर में बैठकर इन्सान को साक्षात् भगवान बनाने की कला सिखा रहे हैं। वास्तव में उनका जीवन धन्य है। □

लेखक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	५६ हजार ५००	१८.००
०२. विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	८५ हजार	१२.००
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	४९ हजार	१८.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी) (नवीनतम कृति)	२३ हजार	१६.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि., म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु., क.)	७१ हजार २००	६.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	८ हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१ (हि.म.गु.क.त.अं.)	३ लाख ५२ हजार	२.००
१०. क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (नवीनतम)	८ हजार	३.००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि (नवीन संस्करण)	५ हजार	४.००
१३. हरिवंश कथा (दो संस्करण)	१० हजार	३०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन	३ हजार	४.००
१५. शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (दो संस्करण)	७ हजार	२५.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (प्रथम संस्करण)	५ हजार	३०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (दो संस्करण)	८ हजार	१५.००
१८. नींव का पत्थर (उपन्यास)	५ हजार	१०.००
१९. पंचास्तिकाय (पद्यानुवाद)	५ हजार	३.००
२०. तीर्थंकर स्तवन	५ हजार	१.००
२१. साधना-समाधि और सिद्धि	२ हजार	४.००
२२. ये तो सोचा ही नहीं (उपन्यास)	३ हजार	१२.००
२३. जिन खोजा तिन पाइयाँ	३ हजार	१०.००

सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) -

२४ से ३५. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)	१६०.००
३६. सम्यग्दर्शन प्रवचन	१५.००
३७. भक्तामर प्रवचन	१२.००
३८. समाधिगतक प्रवचन	२०.००
३९. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)	३.००
४०. गागर में सागर (प्रवचन)	७.००
४१. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
४२. गुणस्थान-विवेचन	१८.००
४३. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)	१०.००
४४. विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)	११.००

आदरणीय पण्डित रतनचन्द्रजी भारिल्ल के नाम प्राप्त पत्र

गौहाटी से सद्धर्मप्रेमी श्री जयचन्दलालजी पाटनी लिखते हैं कि -
मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आचार्य श्री विद्यानंदजी महाराज के सान्निध्य में एवं श्रीमती प्रतिभा पाटिल महामहिम राज्यपाल राजस्थान के करकमलों द्वारा आपको सन् २००५ का आचार्य अमृतचन्द्र पुरस्कार प्राप्त हुआ।

सचमुच आप सरल, सात्विक एवं जिनवाणी माता के प्रचार में निरन्तर व्यस्त रहने वाले निःस्वार्थ भाव से साहित्य सेवी विद्वानों में विरल हैं। आप सही रूप में जिनवाणी माँ की सरल-सुबोध शैली में गहन से गहन विषयों को प्रतिपादित करके जिज्ञासु भव्यजनों को सुबोध देने में सक्षम हैं। आपकी छवि को देखकर ही आपके प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ती है। आप चिरायु होकर इसी तरह लंबे समय तक जिनवाणी की संवर्धना में सहयोगी बने रहें - यही शुभ कामना एवं मंगल भावना है।

पुनश्च: आपने १ लाख रुपयों का पारितोषिक प्राप्त कर उसमें अपनी तरफ से ५१ हजार रुपये मिलाकर साहित्य प्रकाशन का न्यास बनाने की घोषणा करके सच्चे धार्मिक होने का जो प्रमाण पत्र दिया है, उससे मेरी श्रद्धा द्विगुणित हो गई है। यह अति श्लाघनीय कार्य है।

आपका स्नेही

जयचन्द लाल पाटनी

१४, महावीर भवन, ए.टी. रोड, गौहाटी

जिन खोजा तिन पाईयाँ

आगम-रत्नाकर में प्रतिदिन
जो गोते खूब लगायेगा।
अध्यात्म का अवलम्बन ले
जो गहरे गोते खायेगा ॥
यथाशीघ्र तल तक जाकर
वह अनमोल रतन ले आयेगा।
रत्नत्रय की निधियाँ पाकर
वह अनुपम आनंद पायेगा ॥
हूँ हूँ हूँ
समकित का अनमोल रतन
उसके अनुभव में आयेगा।
ज्ञान-रतन की ज्योति से
वह अज्ञान अंधेर भगायेगा ॥
निज स्वरूप में स्थिर हो
वह भवसागर तर जायेगा।
मोक्षमहल में जाकर के
वह कृत्य-कृत्य हो जायेगा ॥
हूँ हूँ हूँ
'जिन खोजा तिन पाईयाँ'
यह विश्वास हमारा है।
आध्यात्मिक रत्नों को पाने का
ये ही यह मात्र सहारा है ॥

॥ ॐ नमः ॥

- रतनचन्द भारिल्ल